संवर्त्त

प्रकाशक

पुस्तक-भण्डार

लहेरियासराय और पटना

मूल्य १।)

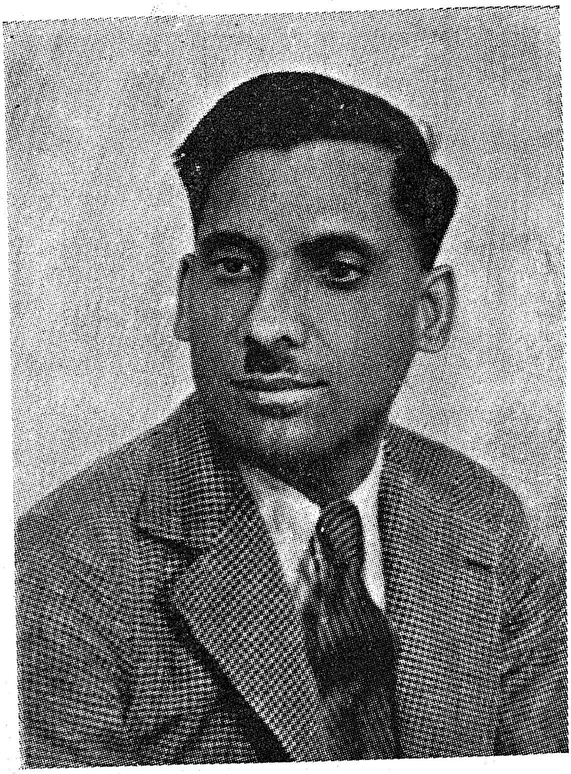
प्रथम संस्करण
(संवत् २००१ वि०)

मुद्रक:
श्रीजयनाथ मिश्र,
हिमालय प्रेस, पटना

संवर्त्त

गी
ति
का
व्य

पंडित केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', एम० ए०



पूज्याग्रजप्रवर

पंडित जगन्नाथजी मिश्र 'कमल' विद्यालंकार

के

पवित्र चरणों में

सादर सभक्ति

'प्रभात'

फाल्गुन महाशिवरात्रि] [सं० २००० वि०

अभिनेतृवर्ग

१ अहंकार

२ क्रोध

३ धर्म

४ ज्ञान

५ हिंसा

६ प्रार्थना

७ पृथिवी

८ तृष्णा

कलियुग, विज्ञान आदि

प्रस्तावना

काव्य जीवन की प्राणमयी भाषा है। जीवन देश और काल में स्थित है। देश और काल की प्रकृति से जीवन प्रभावित रहता है। देश में परिवर्तन होता है, परन्तु वह सामान्यतया लक्ष्य में नहीं आता। देश का वाह्य परिवर्तन अर्थात् ऋतु-चक्र की प्रगति सब की दृष्टि में स्पष्ट उतर आती है; परन्तु उसके अन्तःपरिवर्तनों का विशेषीकरण इतना सहज नहीं है। अन्तःपरिवर्तन अधिकतर मानवीय मन की उत्क्रान्तियों के पदचिह्न होते हैं। मानसिक उत्क्रान्तियाँ जब आत्म-प्रकाश करती हैं, उसी क्षण को उनका उत्पत्ति-काल मानना निर्भ्रम न होगा।

मन में विचार-तरंगें शताधिक वर्षों तक लहरों के समान चला करती हैं और जीवन-पथ पर निरन्तर संतुलन और समीक्षण से वे जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान बना लेती हैं। इस प्रकार जब कोई अनुभूति सामाजिक अनुभूति बन जाती है, तब उसका वास्तविक जीवनकाल प्रारंभ होता है। यही अनुभूति लोगों के सुख, दुःख, हर्ष, विमर्ष, हास, शोक इत्यादि के व्यासंग से भाव की पदवी प्राप्त करती है। कवि का कार्य्य ऐसे ही भावों को संतुलित और

व्यवस्थित लोकभाषा में लय-तालयुक्त संगीत-संविधान द्वारा संचित कर देना है।

वर्तमान युग में मनुष्य जिन भावों का क्रीड़ा-कन्दुक बना हुआ है, वे न जाने कब किस सावकाश हृदय में किस परिस्थिति में कली की सुरभि के समान उद्गीरित हो गए थे। अनन्तर अनेक परिवेशों और कालान्तरों में जीवन-यापन करते हुए अनन्त हृदयों का राग-द्वेष वहन करते हुए वे वर्तमान युग को पैतृक परम्परा के रूप में प्राप्त हुए। अतीत के लिए मनुष्य की श्रद्धा का अन्त नहीं। अतीत का अनन्त अनुभव वर्तमान को बिना प्रयास प्राप्त हुआ; इसके लिए वर्तमान की अतीत के प्रति श्रद्धा उचित ही है। परन्तु जब इस श्रद्धा का उपयोग परम्परा के अन्ध-प्रतिपालन की ओर अविचल आस्था के रूप में प्रकट होने लगता है तब जीवन में एक जड़ता आ जाती है। यह जड़ता अभ्युदय में पग-पग पर अवरोध उत्पन्न करती है। इतना ही नहीं; समाज का सामान्य जीवन भी अनेक अनिवार्य्य विधिनिषेधों में जकड़ जाने से रसहीन हो जाता है। जब ऐसी स्थिति आ जाती है तब उसके प्रति विद्रोह के भाव जाग्रत होने लगते हैं। धीरे-धीरे पुरातन व्यवस्था विछिन्न होने लगती हैं और समाज में एक विशृंखलता का उदय हो जाता है। वर्तमान भारतीय समाज इसी प्रकार की स्थिति में आजकल है।

काव्य कवि के युग की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों से अनुप्राणित होता है। युग की व्यक्त-अव्यक्त आकांक्षाएं, चेष्टाएँ और भावनाएँ उसमें अभिव्यक्ति पाती हैं। प्रत्येक काव्य में उपस्थित युग का परिपूर्ण

दर्शन किया जा सकता है, चाहे कवि ने अपने युग का स्पष्ट उल्लेख किया हो अथवा नहीं, क्योंकि देश और आकाश में समाविष्ट युग-व्यापी विचार-धाराएँ प्रकट सम्बन्ध के अभाव में भी प्रत्येक हृदय को आन्दोलित और आप्लावित करती रहती हैं।

विचार-जीवन के आधार पर युगों का निर्धारण किया जाता है। जब कोई विचार-धारा अपनी चरम स्थिति को प्राप्त हो जाती है तब उसका कार्य्य समाप्त हो जाता है। जीवन के क्षण-प्रतिक्षण को गति और दिशा देनेवाली अनन्त आध्यात्मिक विचार-धाराएँ, जो स्थूल और सूक्ष्म दोनों कूलों को स्पर्श करती हैं, जब जड़ता की मरुभूमि में पहुँच जाती हैं, तब उनका कार्य्य समाप्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर, समाज के शिव और अशिव का भार वहन करने वाले मनीषी जीवन की नई व्याख्या करना प्रारंभ करते हैं और समाज-व्याप्त जड़ता का परिहार करने के लिए नवीन उत्साह से उद्योग करते हैं। इस उद्योग में कितने ही निर्जीव विचारों को, जो रूढ़ि-शेष होकर अपनी प्रवाहशालिता से पृथक हो चुके होते हैं, अमान्य ठहरा कर नवीन प्रेरणा-दायक विचारों की प्रतिष्ठा की जाती है। धीरे-धीरे एक समय ऐसा आता है जब इतिहासकार यह स्पष्ट करता है कि एक युग समाप्त हो चुका है और दूसरे का प्रारंभ हो रहा है।

युगों के निर्म्माण में विचारों की आन्तरिक उत्क्रान्ति तो कारण-भूत हैं ही, वाह्य परिस्थितियाँ भी कम महत्व नहीं रखतीं। आर्य्यों और अनार्य्यों के अथवा देवों और असुरों के संघर्ष की छाप वेदों

पर अमिट है। इस संघर्ष के फलस्वरूप आर्य्यों में जिन नये भावों का प्रवेश हुआ, उनका वेदों में अस्तित्व सुरक्षित है। किसी संघर्ष का विस्फोट उसका वास्तविक आरंभ नहीं होता, उससे पहले ही उसकी नींव पड़ चुकी होती है। इस बीच में संघर्ष-लीन जातियों में विचारात्मक संघर्ष चलता रहता है। संघर्ष की समाप्ति के बाद सन्धि के पत्र पर ही द्वन्द्व का उपशमन नहीं हो जाता। उसके लिए कालान्तर की अपेक्षा रहती है। इस कालान्तर में पराजयों और विजयों का पुनः मनोनिविष्ट अभिनय उभय पक्ष में होता रहता है। साहित्य वा काव्य इस आद्य-अव्यक्त, मध्य-व्यक्त और अन्त-अव्यक्त को लोक-सुलभ करने के लिए उदात्त वाणी में गुम्फित करता है। देवासुर-संग्राम का उन अवस्थाओं में उल्लेख, वेदों में स्पष्ट मिलता है। जातिगत श्रेष्ठता का अभिमान आर्य्यों की विजयों के परिणाम-स्वरूप उनके साहित्य में स्थल-स्थल पर मिलता है। यहाँ तक कि उनका धार्म्मिक जीवन भी उन विचारों से अनुशासित है। वेदों में आर्य्यों की घृणा, प्रेम, राग, द्वेष, लोभ, मोह, उत्साह, ओज, पौरुष कर्मण्यता, धृति आदि गुण-दोषों की पूर्ण अभिव्यञ्जना है। यद्यपि इस अभिव्यञ्जना में आत्मसम्मोह-जनित श्लाघा का पूर्ण प्रभाव है।

वैदिक काल में संगठित रूप से आर्य्य लोग अपने शत्रु का सामना करते थे। इस कारण उनके साहित्य में सामाजिक ऐक्य की भावना का परिपूर्ण विकास पाया जाता है। प्रसिद्ध गायत्री-मंत्र तक में 'नः' का प्रयोग है। आर्य्यों की दृष्टि अधिकतर सामूहिक अभ्युदय-साधना की ओर थी, इसलिए जिस प्रकार संघर्ष के समय उसी प्रकार

शान्ति के समय भी उनका सामाजिक अवबोध निरन्तर जागरूक रहता था। बल, यश, पशु, सन्तान, ऐश्वर्य इत्यादि की कामना में सामूहिक भावना अविछिन्न रूप से पाई जाती है। उन दिनों ज्ञान का अरुणोदय-काल था। फलतः प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में देवता की स्थिति मानी जाती थी और उन शक्तियों की अनुकूलता प्राप्त करने के लिए प्रकार-विशेष से भजन-पूजन का विधान था। दिशाओं के अधिपतियों से विभिन्न दिशाओं से आगमनीय संकटों की धारणा करके आर्य्यगण रक्षा की प्रार्थना किया करते थे। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत राग-द्वेष को लेकर भी भावों की स्फुरणा होने लगी। धीरे-धीरे अभिचारों और प्रयोगों का प्रचलन हुआ और निरन्तर विजयों से प्राप्त शान्ति और निश्चिन्तता के कारण, लोगों की जिज्ञासा, दैवी शक्तियों के समझने की ओर अग्रसर हुई। इसके फलस्वरूप बहुदेव-वाद, सर्वदेव-वाद, एकदेव-वाद और ब्रह्मवाद के विचार साहित्य और धर्मशास्त्र में प्रतिफलित हुए। इस प्रकार समाज में प्रज्ञा-भेद उपस्थित हुआ। समाज के सम्मानपात्र ऋषियों ने सामाजिक कार्य्यों की सुगमता के लिए वर्णाश्रम-विभाग की स्थापना की। प्रारम्भ में वर्णों और आश्रमों में स्वार्थ-विरोध और उच्च-नीच की भावना न थी, परन्तु धीरे-धीरे उन भावनाओं का पूर्णतया आधिपत्य हो गया।

वेदों के बाद के साहित्यों में प्रायः अन्तःसंघर्ष मिलता है। इसका कारण यह है कि आर्यों के इतरजातीय शत्रु नतशीर्ष होकर उनकी सेवा-परिचर्य्या करने लग गये थे। आर्य्यों का उद्धत अहंकार

संग्राम-भूमि को शून्य देख कर उन्हीं को ललकारने लगा। इस प्रकार उनका केन्द्रीय संगठन बिखर कर अनेक कुलों में विभक्त हो गया। अध्यात्म-विद्या के क्षेत्र में भी इसी प्रकार उत्क्रान्ति हुई। तत्कालीन साहित्य में इसका वर्णन स्पष्टतया मिलता है। उपनिषदों के ब्रह्मवादी ऋषिगण प्रेय को नश्वर और श्रेय को शाश्वत मानते हुए भी प्रेय का ग्रहण करने के लिए ही अधिकतर ब्रह्मविद्या का उपदेश करते देखे जाते हैं और अपने प्रतिद्वन्द्वी को अयोग्य प्रमाणित करने के लिए "तेरी मूर्द्धा गिर जायेगी" ऐसा आतंक उत्पन्न करते हैं। इन सब का तात्पर्य्य यह है कि समाज-व्यवस्था में जटिलता आने लग गई थी और उस जटिलता का अनेकमुखी प्रसार होने लग गया था, जैसे समाज में वैसे ही जनपद में और तद्वत् साहित्य में इसका पूरा-पूरा प्रकटीकरण पाया जाता है। जीवन वेदों के आदिकाल-जैसा सहज न रह गया था। इसी कारण ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य विदेह की अध्यात्म-सभा में अपना सर्व-श्रेष्ठत्व प्रमाणित करने के बाद दश सहस्र गौएँ सुवर्ण-मण्डित शृंग वाली लेकर अपने आश्रम में गया। चाक्रायण उषस्ति राजकीय यज्ञ के आस्तावस्थान में जाकर प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता को इसी धन के लक्ष्य से आतंक-ग्रस्त करता है और आधा धन अपने लिए और आधा शेष लोगों के लिए छोड़ कर यज्ञ का उपपादन करता है।

उपनिषद्-साहित्य में इसके अतिरिक्त जीवन की बहुमुखी प्रवृत्तियों का निरूपण बहुत भावपूर्ण वातावरण में किया गया है। भाषा शैली, प्रतिपादन और विषयों का निर्वाह सब बेजोड़ मिलता है। कला की

यह प्राणमयी प्रकृति उपनिषद्-काल के बाद फिर नहीं पाई गई। उपनिषदों की प्रबुद्ध चेतना का एक उदाहरण छान्दोग्योपनिषद् से दे रहे हैं। नारद सब शास्त्रों का अध्ययन करने के उपरान्त सनत्कुमार के पास उपसन्न होते हैं और निवेदन करते हैं—"मैं केवल मन्त्रवेत्ता हूँ, आत्मवेत्ता नहीं। आप-जैसों से मैंने सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेता है। मैं शोक करता हूँ, मुझे शोक से पार कर दीजिए।" तब सनत्कुमार उससे कहते हैं—"नाम ही सर्वश्रेष्ठ है, तुम उसी की उपासना करो।" और, वे कहते हैं—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्ध-कल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधि-ज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, गारुड़, संगीतादि कला और शिल्पविद्या (जिन्हें तुमने स्वीकार किया है, जानते हो)—ये सब भी नाम ही हैं। तुम नाम की उपासना करो।" नारद पूछते हैं—"क्या नाम से भी कुछ श्रेष्ठ है?"—सनत्कुमार कहते हैं—"नाम से भी श्रेष्ठ है।" तब नारद कहते हैं—"भगवन्! मुझे वही बतलाइये।" इसके बाद सनत्कुमार वाक् की महत्ता प्रतिपादित करते हैं और उपर्युक्त विद्याओं के बाद और कहते हैं—"द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद, कीट, पतंग, पिपीलिका-पर्य्यन्त प्राणी, धर्माधर्म, सत्यासत्य, साधु-असाधु, जो कुछ है उसे वाक् ही विज्ञापित करती है। इसके बिना इनका ज्ञान न होता, अतः तुम वाक् की उपासना करो।" इससे भी श्रेष्ठ पूछने पर सनत्कुमार मन का वर्णन करते हुए कहते

है—"उसमें वाणी की और नाम की महिमा का अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार वे संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, आशा आदि को क्रमशः श्रेष्ठतर उपासनीय कहते हैं। इसके उपरान्त वे प्राण को सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करते हैं। प्राण के बाद नारद, इससे भी कुछ श्रेष्ठ हो तो उसका उपदेश कीजिए, नहीं कहते। इससे प्रत्यक्ष होता है कि साहित्य में तदानीन्तन ज्ञान का, वातावरण के पूर्णविबोध के साथ, किस प्रकार सदुपयोग किया जाता था।

इसीके समानान्तर भारत में एक सांस्कृतिक उत्क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप वेदप्रतिपादित कर्मकांड के प्रति लोगों में अनास्था उत्पन्न हुई। यज्ञों में जो हिंसा प्रायः हुआ करती थी उससे कुछ लोगों को विरक्ति हो चली थी। और, यह हिंसा अधिकतर ईश्वर और ऐहिक अभ्युदय की साधना की दृष्टि से होती थी; इससे ईश्वर और धर्म को क्या मिलता था, यह तो अध्वर्यु इत्यादि ही जानें; परन्तु रसनेन्द्रिय की परितृप्ति सामान्य-असामान्य सभी जन जानते थे। इसी कारण यज्ञों का क्रम निरन्तर चलता रहता था। इसी की प्रतिक्रिया में बौद्ध और जैन धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। इन धर्मों में अहिंसा पर अधिक जोर दिया गया और यज्ञों का प्रत्याख्यान किया गया। इसके अतिरिक्त वेदों को भी प्रमाण नहीं माना गया; क्योंकि याज्ञिक वेदों से ही यज्ञों की विधेयता प्रमाणित करते थे और इस कर्म के प्रतिपादन में आत्मा और परमात्मा की दुहाई दिया करते थे। इस कारण इन धर्मों में अनात्मवाद का विधान

है। कठोपनिषद् से प्रतीत होता है कि जिस समय इस उपनिषद् की रचना हुई उसके पहले से लोगों में आत्मा के प्रति अनास्था का भाव बद्धमूल हो गया था। इसीलिए नचिकेता यम से प्रश्न करता है—"मृत मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं 'रहता है,' कोई कहते हैं 'नहीं रहता है,' आपसे शिक्षित हुआ मैं इसे जान सकूँ; मेरे वरों में यह तीसरा वर है।"

इन सांस्कृतिक क्रान्तियों से एक बौद्धिकता का उदय हुआ जो वस्तुतः उपनिषद्-काल की अथक जिज्ञासा-वृत्ति का योग्य प्रतिनिधित्व करती है। इस काल में, दर्शन साहित्य, पुराण, इतिहास इत्यादि में प्राय: सत्य की अनुसन्धित्सा पाई जाती है; यद्यपि उस पर ग्रन्थकारों के संस्कारों और परम्परागत रूढ़ियों का आवरण पड़ा हुआ है।

भारतीय जीवन इस समय से पहले कहीं अधिक विकास कर चुका था। पहले का संकुचित क्षेत्र विस्तीर्ण हो चुका था। छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़-भिड़ कर नष्ट हो चुके थे और उनकी चिताभस्म से बड़े-बड़े शक्तिशाली राज्यों की स्थापना हो चली थी। जीवन में स्थिरता और महत्वाकांक्षा का उदय हो चला था। लोग चक्रवर्ती साम्राज्य का स्वप्न देख रहे थे। गणतन्त्र व्यवस्था भी चल रही थी। षोडश महाजानपदों का वर्णन प्रायः मिलता है। परन्तु साम्राज्य का स्वप्नद्रष्टा मगध कुछ और ही योजनाएँ निश्चित कर चुका था। राजवंश पर राजवंश मिटे; परन्तु ये योजनाएँ नहीं मिटीं। ये योजनाएँ महामति चाणक्य के मस्तिष्क का बल पाकर सफल हुईं। चाणक्य ने भारत में एक राजनीतिक चेतना के संचार का

प्रयत्न किया और इसमें सफलता भी मिली। इसके बाद गणतन्त्र-व्यवस्था निर्बल से निर्बल होते-होते लुप्त हो गई। भारत के प्राचीन साहित्य में गणतन्त्र के अनुकूल भावों का वर्णन यत्रतत्र बिखरा मिलता है। परन्तु कालान्तर में गणतन्त्र के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर और मनःसम्बन्ध का अत्यन्ताभाव हो जाने से गणतन्त्र-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का अद्भुत्-अद्भुत अर्थ आविष्कृत किया गया। जिनका अर्थ सर्वथा ऐहिक था उनपर-भी आमुष्मिकता की रंगसाजी की गई। अनेक ऐतिहासिक वात्या चक्रों को पार करता हुआ भारतीय जीवन भी अपने अलङ्कार और उपस्कर बदलता गया। जिस बौद्धिकता का सूत्रपात बुद्ध ने किया था, वह उनके धर्म के साथ ही भारत को छोड़कर प्रवासिनी हो गई। आचार्य शङ्कर के उद्योगों का और चाहे जो फल हुआ हो, एक विशेष फल अन्धश्रद्धा का उदय है। धार्मिक और सांस्कृतिक तियोगिताओं के परिणामस्वरूप बौद्धधर्म भी कुछ का कुछ हो चला था। उसके योगाचार और वज्रयान सम्प्रदाय लोकप्रवृत्ति के साथ उसकी हीनावस्था के भी द्योतक थे। आचरण की हीनता के कारण भी उसका प्रभाव उखड़ गया। बौद्धधर्म और हिन्दूधर्म के संघर्षजनित रक्त की लालिमा साहित्य और इतिहास के पृष्ठों पर अमिट है।

मौर्य्यवंश के अन्तिम सम्राट् वृहद्रथ का बलदर्शन-व्यपदेश से वध करके सेनापति पुष्यमित्र ने सिंहासन पर अधिकार किया, और बौद्धधर्म के उत्थापन के साथ-साथ उसने हिन्दूधर्म और

यज्ञ-परम्परा का पुनरुत्थान किया। शुंगो के दुर्बल हाथों में अधिक दिन राजदण्ड न रह सका। उनसे भी उनके सेनापति ने सिंहासन स्वाधिकृत किया। इसके बाद अखण्ड अराजकता का देश में प्रसार हुआ। इस काल के साहित्य में इसकी छाप है। अनेक पुराणों और स्मृतियों की रचना इसी काल में हुई। उनमें समस्याओं का समाधान, संघर्षों का वर्णन तात्कालिक वातावरण से परिपूर्ण है। वर्णों की निम्नोच्चता का उद्घोष इस समय प्रबल था। यह बौद्धकालीन वर्णहीन मनुष्यता की प्रतिक्रिया का परिणाम था। बुद्ध के द्वारा जिस विचार-स्वातंत्र्य का प्रतिपादन हुआ था वह फिर देखने में नहीं आया। संस्कारों, रूढ़ियों और परम्पराओं का जीवन पर अखण्ड आधिपत्य स्थापित हो गया। फिर भी जीवन में युग की आवश्यकता के अनुकूल भावों की लहरें आती रहीं और उनका शास्त्रानुकूल संगतिविधान होता रहा।

भारत में धर्म का प्रभाव जीवन के सर्वाङ्ग पर प्रारम्भ से अब तक पाया जाता है। साहित्य भी धर्म के प्रभाव से युक्त है। जनहृदय में संस्कार-रूप में धर्म की जड़ें गहराई में जाकर पैठ गई थीं। परिणामतः उनके भावों की भाषा धर्म की भाषा है। इसी कारण भारत का प्राचीन और नवीन साहित्य समान रूप से अध्यात्ममय है।

यद्यपि विक्रम की द्विसहस्राब्दि तक अनेक क्षेत्रों में भारत को अनेक धक्के लग चुके हैं तथापि उसके आदर्श और स्वप्न सहस्राब्दियों पूर्व के हैं। राजनीति में महात्मा गान्धी का धार्मिक प्रयोग एक

ऐसा ही उदाहरण है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि जनता धर्माधिरूढ़ है। धर्म-पथ से तो जीवन शताब्दियों पूर्व विचलित हो चुका है। धर्म की अपराजेयता तो इसमें है कि जो लोग धर्म से विचलित होते हैं उन्हें उनके परम्परागत संस्कार ही क्षमा नहीं करते। आधुनिक जीवन अपने ही संस्कारों का दण्डभोग कर रहा है। इसी से वर्तमान अनुभूतियाँ बहुत जटिल हो गई हैं।

भारतीय जीवन में एक बार असामान्य विशृङ्खलता आई थी। मुसलमान आक्रान्ताओं से कुछ समय तक के लिए तो ऐसा प्रत्यय होने लगा कि मुस्लिम संस्कृति के प्रखर प्रवाह में भारतीय जीवन का अश्वत्थ उखड़कर बह जायगा, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। भारत के तत्कालीन विचारकों ने राजनीतिक पराभव-जनित हीनभावना को दूर करने के लिए धार्मिक महत्ता का संदेश दिया। धार्मिक महत्ता की प्राचीर में लोकहृदय इतना बन्दी हो गया कि बाह्य विश्व का कोई विचार ही न रहा। परिणाम यह हुआ कि मुसलमान विजेताओं के सामने लोगों के मस्तक तो नत हुए, हृदय नहीं नत हुआ। इस आत्मसंघर्ष का प्रभाव उस काल के साहित्य, समाज और धर्म पर अखण्ड बना हुआ है। मुस्लिम संस्कृति का आदर्श सर्वथा भिन्न होने के कारण संघर्षों की इति नहीं थी। इन संघर्षों को कम करने के लिए धार्मिक अभेदों का अन्वेषण करने की ओर कुछ महात्माओं की प्रवृत्ति हुई। उन्होंने ऐसे सर्वसामान्य आदर्शों का, जो दोनों ही पक्षों में प्रचलित थे, प्रचार किया और समन्वय एवं सहिष्णुता की भावना उत्पन्न की। दुर्भाग्यवश इन महात्माओं का प्रयत्न अभीष्ट परिमाण

में सफल नहीं हुआ। इतिहास के पृष्ठों पर जो क्षत रक्त से अङ्कित हो चुके थे उनका लोकहृदय पर गम्भीर प्रभाव था; इसी कारण एकता का उद्योग सीमित क्षेत्र में ही सफल हुआ। इस विफलता का एक यह भी कारण है कि बड़े-बड़े धर्माचार्य इससे पूर्णतया उदासीन रहे। हिन्दी का सन्त-साहित्य हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयत्न का सुमधुर गीति-महाकाव्य है। इस प्रकार की काव्यरचना हिन्दी ही नहीं, भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी प्रचुर उपलब्ध है। इस काल के धार्मिक आन्दोलन इस समन्वय-भावना के अनुकूल अणु-परिमाण भी न थे। इन आन्दोलनों का प्रभाव भारतव्यापी था। भारत की सवर्ण जनता इन्हें अपने लिए दैवी सम्पद् मानती थी। जनता के अन्तर्हृदय में प्राचीन भावों और कल्पनाओं का अखण्ड शासन था और प्राचीन आदर्शों तथा परिस्थिति में कोई सामंजस्य नहीं दिखाई देता था; इसी कारण लोगों के मन में वर्तमान स्थिति से विरक्ति और घृणा थी। राजनीतिक पराजय को विधाता की इच्छा समझकर तत्कालीन जनहृदय मनोराज्य में विहार करने लगा था।

इस काल की मनोदशा बहुत कुछ अपने मूल रूप में आज भी है, यद्यपि अवस्थाएँ बिल्कुल बदल गई हैं। मुस्लिम शक्ति के ह्रास के समय एक बार फिर देश में सर्वदिक्व्यापी अराजकता और अव्यवस्था का उत्थान हुआ, जिसका उपयोग अंगरेजों ने अपने स्वार्थसाधन के लिए भली भाँति किया। इस प्रकार भारत की भूमि में अंग्रेजी शासन की स्थापना हुई। एक तृतीय शक्ति को समृद्धि के सिंहासन पर आरूढ़ करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम दोनों जातियों

ने एक दूसरे की पीठ में छुरा भोंका। थोड़े ही समय बाद लोगों को अपनी-अपनी भूल मालूम हुई। अपनी पूर्वकृत त्रुटियों का निराकरण करने के लिए १८५७ में लोग एक बार एकत्र हुए। यद्यपि वह उद्योग विफल हुआ तथापि उसका भारतीय जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। लोगों में राष्ट्रीयता की चेतना आई। परस्पर का अविश्वास और सन्देह दूर करने के लिए प्रचेष्टा होने लगी। सुदूर पश्चिमवासी अंग्रेजों के सम्पर्क से लोगों में आत्मपरीक्षण और विश्वपरिभ्रमण की प्रवृत्ति जगी। इन्हीं दिनों विज्ञान का विकास हो रहा था। उसकी ओर भी कुतूहल बढ़ा। अंग्रेजी शिक्षा के कारण लोगों के मन का विस्तार हुआ। अंग्रेजी के माध्यम से विश्व के अन्यान्य देशों और उनके नागरिकों के अनन्त भावकोष का पता लगा। इस प्रकार परिचय की व्यापकता और विशालता के कारण भारत की पराजय-जनित भाग्यवादी आत्मग्लानि तिरोहित हुई और उसके स्थान पर अदम्य उद्योगशीलता की प्रतिष्ठा हुई। विज्ञान और उद्योग के परिणामस्वरूप विश्व में देशों की सीमाएँ टूट रही थीं। धर्म का पुरातन विधि-विधान डगमगा गया था। अतः उसका अनुशासन जीवनक्षेत्र से उठता जा रहा था। लोग विज्ञान की वरेण्यता मुक्तकण्ठ स्वीकार कर रहे थे। इस समय एक नवीन धार्मिक पुनरुत्थान हुआ। नये आचार्य्यों ने धर्म के विज्ञानसम्मत भाष्य का सूत्रपात किया। नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, पुराण, इतिहास, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष, भूगोल इत्यादि का स्वरूप ही कुछ और हो गया। सृष्टि-विज्ञान की पौराणिक धारणा को भौतिक विज्ञान, रसायन-

शास्त्र और प्राणि-विज्ञान ने धराशायी कर दिया। सभ्यताओं के जो विभेद कभी अनुल्लङ्घनीय जान पड़ते थे, आज उनका पता नहीं है। आज संसार के सभी देश विद्युत् और तार के सम्बन्ध से बँधे हुए हैं। उनकी दूरी अब नगण्यप्राय हो गई है।

इन उत्क्रान्तियों का प्रभाव विश्व के साहित्य पर व्यापक रूप से पड़ा है। लोगों के भाव भी बदले हैं और भावों का वाहन भाषा भी। जहाँ शिक्षा सर्वसुलभ है वहाँ जनजीवन उच्च स्तर पर है और जहाँ भारतवर्ष के समान शिक्षा दुर्लभ और महार्घ है, वहाँ अद्यावधि पुरातन जड़ता प्राणों पर शासन कर रही है।

समाज-विज्ञानके अध्ययन और मनन से कल्याण के नये मार्गों और नई दिशाओं की उद्भावना हुई। विद्रोह की आँधी शान्त हो जाने पर लोगों ने स्पष्ट देखा कि पुरातन में केवल विष ही विष नहीं है, अमृत भी है। जीवन और समाज के लिए वह अमृत उन्मेषप्रद है। यदि उस प्राप्त अमृत का परित्याग किया गया तो उसकी प्राप्ति के लिए अभिनव उद्योग करना पड़ेगा। इन्हीं कारणों से सामाजिक आदर्शों को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए प्राचीन दृष्टि को व्यक्तिगत जीवन में सम्मान दिया गया। स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और रामतीर्थ धार्मिक पुनर्जागरण का सन्देश सुनाते रहे। इनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप लोगों में नवीन धार्मिक चेतना का उदय हुआ। पराजित राष्ट्र को भूतकालीन आध्यात्मिक उत्कर्ष का व्याख्यान सुनकर अहंस्फूर्ति का अनुभव हुआ। इसके समानान्तर ही राष्ट्र-चेतना में पीढ़ियों की

पराधीनता के प्रति असन्तोष और क्षोभ का भाव जागरित हुआ। हिन्दी-साहित्य में इन अवस्थाओं का प्रभाव इतना सुस्पष्ट है कि यहाँ उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। राष्ट्रीय विचारधारा के कवि ने लोकहृदय का आह्वान किया था कि "हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी; आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।" वस्तुत: यह देश और काल की पुकार थी, जिसे सजग कवि ने सुना। उस समय का अधिकांश काव्य-साहित्य एक संघर्षोद्यत जाति का साहित्य है। पराजित राष्ट्र के प्राणों में नई आशा, हृदय में नया उत्साह, मन में नये स्वप्न और नेत्रों में नई ज्योति आ गई थी। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक समस्त भारत के आकाश में एक ही स्वर गूँज रहा था। स्वतंत्रता के लिए सारा राष्ट्र बेचैन था।

साहित्य में व्याप्त यह राष्ट्र-चेतना स्थूल नैतिकता पर आधारित थी। उसमें गहन आत्मनिरीक्षण का भाव नहीं था। आत्मोद्धार के लिए सन्नद्ध राष्ट्र देश और काल की सम्पूर्ण चेतना को स्वायत्त करके ध्येय की ओर अभियान करता है। उन राष्ट्रीय कवियों में दार्शनिक विवेचन और प्रभावन नहीं था। इस कारण काव्य में एक परिवर्तन हुआ—हिन्दी-कविता छायावाद की ओर मुड़ी। इसमें स्थूल भावनाओं को स्थान नहीं था। नये कवियों पर पुरातन साहित्य—वेद-उपनिषद्—और अँगरेजी साहित्य के रोमांटिक जागरण (Revival) का प्रभाव था। काव्य की इस दिशा की ओर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पदचिह्नों को देखते हुए लोग बढ़े। रवीन्द्र के

अनुभव और प्रयोगों का सम्पूर्ण भारत के साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा। कवि मात्र क्रान्तदर्शी न रहकर सर्वदृक् बनने के लिए उद्योग-परायण हुआ। अतएव नवीन काव्य की भूमि जीवनप्रेरक तेज से आलोकित हुई। पराधीनता की ग्रन्थि लोकहृदय में अच्छेद्य थी। इस कारण निराशा का संयोग सबके स्वरों में समान रहा और कल्पना का यथेष्ट विस्तार न हो सका। इस काव्यधारा में अनेक वादों का अस्तित्व है, जिसका कारण कवियों की सर्वरस-ग्राहिका चेतन अनुभूति है। विश्व-मानववाद, समतावाद, निराशावाद, अतीत की ममता, राष्ट्रवाद आदि भाव और वाद इस काव्यधारा में, जिसे छायावाद और रहस्यवाद कहा जाता है, पूर्ण मात्रा में और सभी कवियों में एकत्र पाये जाते हैं।

आगे चलकर हिन्दी-काव्य की दिशा फिर बदली। उपर्युक्त काव्य-धारा का लोकजीवन से प्राणसम्बन्ध नहीं था। अधिकतर कवि स्वप्नदर्शी थे। उनका स्वप्न अशिक्षित और असंस्कृत जनता की समझ के बाहर था। रूस का सन्देश विश्व के कोने-कोने में पहुँच गया। अब लोग समाजवाद को जीवनव्यापी वैषम्यों और अवरोधों का एकमात्र उपचार मानने लगे थे। इतिहास की आर्थिक व्याख्या ने समाज को दिव्य दृष्टि दी। लोगों को अपने दुःखों का कारण स्पष्ट दिखाई देने लगा। फलतः पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और फैसिज्म को लोग सभ्यता और संस्कृति का शत्रु समझने लगे। संसार की दलित जातियों में एकता और संगठन के भावों के अंकुर उगे। दिशा-दिशा में एक पुकार उठी। सबने एक निश्चित

लक्ष्य की ओर प्रयाण किया। हिन्दी-काव्य पर भी इसका अनिवार्य प्रभाव पड़ा। दृष्टि के लिए विस्तृत क्षेत्र मिला और कल्पना के लिए अनन्त आश्रय। प्रसाद ने 'कामायनी' का निर्माण कर सबसे पहले लोकहृदय के जड़ीभूत संकोच का निराकरण किया। इसके पश्चात् सर्वत्र संकीर्णता का गढ़ टूटने लगा। आधुनिक हिन्दी-साहित्य अपने समृद्ध अतीत के तेजस्वी संस्कारों से देदीप्यमान विश्व के उत्कृष्ट से उत्कृष्ट साहित्यों की समान-स्थिति में विराजमान है। सम्प्रति मनुष्यता की उत्कर्ष-साधना का उद्योग सम्पूर्ण साहित्यों में परिलक्षित होता है। इस पवित्र साधना का स्वर निखिल भूमंडल के अनन्त आकाश में छाया हुआ है।

यह मानव-भावों का स्वल्पीकृत संकेत-चित्र है। इसके बिना 'संवर्त्त' की भूमि का दिग्दर्शन दुस्साध्य है। कवि 'प्रभात', संवर्त्त के द्रष्टा, दर्शन के अनुयोग से मानव-भावों को वाणी देने के उपक्रम में कभी से लग्न हैं। जब छायावाद का उदय हो रहा था तब वे राष्ट्रवीणा में ओजस्वी स्वर भर रहे थे। परिस्थिति की प्रत्येक तरङ्ग-कम्प का अनुभव करनेवाला उनका संवेदनशील अन्तःकरण सुप्तसंज्ञ लोक-हृदय को नये संस्कार देने के लिए प्रवृत्त हुआ। फलस्वरूप उन्होंने भी प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के स्वरों में स्वर मिलाया और एक ही भावधारा को प्रवाहित रखने के लिए अपनी गरीयसी अनुभूति-चेतना को संलग्न कर दिया। 'प्रभात' दर्शन के दीप्तिमन्त लोक में ही नहीं भ्रमण करते रहे, उन्होंने सौन्दर्य के नन्दन-कानन में भी पदसञ्चार किया। उनके काव्य में जो माधुर्य्य और

सौकुमार्य्य है, वह हिन्दी की काव्य-भाषा में विकास का मान निश्चित करता है।

छायावाद में प्रधान सौन्दर्य्यान्वेषण की प्रवृत्ति के प्रति एक विद्रोह पुंजीभूत होने लग गया था। इसका कारण यह है कि लोकजीवन इतना सौन्दर्य्यमय नहीं है जितना छायावादी काव्य-साहित्य में अंकित किया गया। जग-जीवन को सुन्दर कहने वाले, जग-जीवन की असुन्दरताओं और विभीषिकाओं से पृथक् एक और ही अलौकिक संसार को अपने काव्यों में मूर्तिमान करनेका प्रयत्न करते थे। यह असत्य अधिक दिन तक न चल सकता था। दर्शन के अध्ययन और मनन से लोगों में कठोर सत्य का साक्षात्कार करने की भावना दृढ़ हुई। इस भावना का काव्य पर यथेष्ट प्रभाव हुआ। कविगण भावुकता से स्वतन्त्र होकर दृश्यों और भावों को अंकित करने लगे। परिणामस्वरूप एक संस्कारशील बौद्धिकता का उदय हुआ। इस बौद्धिकता में प्राचीन चिन्तन का समावेश था। यह प्राचीन चिन्ता लोगों के विवेक में भाव और श्रद्धा बन कर सन्निहित थी। अतः नवीन कविता बौद्धिक-विशेष रही। इस काव्य की अन्तःप्रकृतिपर विज्ञान की नई खोजों का भी प्रभाव पड़ा। इसी कारण छायावाद के उत्तरकालीन काव्य में विज्ञान-विरोधी उपमाओं, रूपकों और अलंकारों का सन्निवेश नहीं मिलता ; प्रत्युत् अनेक स्थलों पर विज्ञान के अनुभवों का मर्मग्राही उपयोग मिलता है। 'प्रभात' का 'संवर्त्त' इसी विचार-धारा का परिणाम है।

इसका छायावाद से अंतर सर्वतोमुखी सतर्कता के कारण स्पष्ट

है। इस अंतर को लक्ष्य करके इस रचना को प्रगतिवादी समझने का भ्रम हो सकता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। प्रगतिवाद में प्राचीन संस्कारों और प्रतीकों का ग्रहण नहीं पाया जाता, अथवा कम पाया जाता है। उसमें आधुनिक विज्ञान, मनोविज्ञान और समाजवाद का स्तवन मिलता है। इस कारण प्रगतिवादी कवि केवल वर्तमान और भविष्य को लक्ष्य करके काव्य-निर्माण करते हैं; अधिकतर प्रगतिवादी भविष्यवादी हैं, इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि साहित्य की दूसरी धाराओं में भविष्यवाद है ही नहीं। प्रगतिवादी अपनी कल्पनाओं का दृश्य अंकित करते हुए वर्त्तमान वातावरण का पूरा शब्दचित्र प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन साहित्य पर उनका विचार नवीन दृष्टिकोण से होता है जिसका मुख्य उद्देश्य है, पुरातन संस्कृति की जगह नवीन संस्कृति की स्थापना तथा पुरातन मनुष्य से नवयुग के मानव का विशेषीकरण। 'प्रभात' जी का 'संवर्त' इस विचार-धारा से मेल नहीं खाता।

वर्त्तमान विश्व में सभी देशों की सभ्यताएँ संकटापन्न हैं। यह समय घोर परीक्षा का है। रणक्षेत्र में आज मनुष्यता का भाग्य-निर्णय होने जा रहा है। यह सत्य है कि पक्ष-विपक्ष दोनों ही अपनी-अपनी श्रेष्ठता का उद्घोष कर रहे हैं। परन्तु, परोक्ष में किसका क्या उद्देश्य है, इसको स्पष्टरूपेण निर्दिष्ट करना सहज नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि यह युद्ध निःस्वार्थ नहीं लड़ा जा रहा है। साम्राज्यवादी बृटेन और अमेरिका वस्तुतः केवल मनुष्यता की मुक्ति के लिए ही अपना धन-जन नहीं बरबाद कर रहे हैं। उनकी घोषणाओं पर

विश्वास कर लेना भोलापन है। इसके साथ-साथ जर्मन और जापान किसी देश की संस्कृति और स्वाधीनता के लिए ही इस प्राण-संकट में नहीं पड़े हैं। ये सभी राष्ट्र आर्थिक दोहन के लिए दुनिया के निर्बल देशों को अपने संरक्षण में लेने की लालसा से यह प्रलय-नाटक खेल रहे हैं। प्रलय-नाटक को दक्षता से चरम परिणति देने के लिए राष्ट्रीय अहंकार का अनवरत उद्बोधन किया जा रहा है। यह अहंकार शांति-काल में सो जायगा या जागता रहेगा, यह भविष्य के गर्भ में है। अधिकतर संभावना तो यही दीखती है कि यह अहंकार युद्धों की एक अखंड श्रृंखला की सृष्टि करेगा।

विश्व की इस विपन्न स्थिति का प्रभाव कवि 'प्रभात' पर पूर्ण-रूपेण पड़ा है। 'संवर्त्त' इसी का परिणाम है। 'संवर्त्त' एक प्रतीकात्मक गीतिनाट्य है।

हिन्दी-साहित्य में गीतिनाट्य का अस्तित्व पहले से पाया जाता है, परन्तु साहित्य के इस अंग को पुष्ट करने की ओर कवियों का ध्यान कम गया। 'देव'कवि का 'देवमाया प्रपञ्च' नाटक, जिसपर 'प्रबोधचन्द्रोदय' की छाप है, हिन्दी का प्रथम गीतिनाट्य है। इसके अनन्तर कुछ दूसरे कवियों ने भी प्रयास किया, किन्तु उनका प्रयास साहित्य-कोटि में न आ सका। सुदीर्घ काल तक शून्यता व्याप्त रही, फिर 'प्रसाद' ने इस शून्यता को अपनी रचनाओं द्वारा भंग किया। उनका 'करुणालय', 'महाराणा का महत्त्व' वर्तमान हिन्दी के सुन्दर गीतिनाट्य हैं। इनमें पात्रों की चेष्टाओं और भाव-दशाओं का संकेत तो नहीं है; परन्तु उनके कथोपकथन का

निर्वाह समीचीन रूप से हुआ है। 'प्रसाद' के अनन्तर इस दिशा में उदयशंकर भट्ट सक्रिय दिखाई देते हैं। उनके 'मत्स्यगन्धा' और 'विश्वमित्र'—ये दो उत्कृष्ट भावनाट्य हैं। इनमें काव्य और नाटक के तत्त्वों का उपयुक्त समन्वय किया गया है। भट्टजी के इन भावनाट्यों में प्रणय की अजेयता और रंगीनी का मोहक चित्रण है। इसके अतिरिक्त परिस्थिति और पात्रों की चेष्टाओं का निर्देश अवसर के अनुकूल है। भट्ट की ये विशेषताएँ पूर्ववर्ती गीति-नाट्यकारों में नहीं पाई जातीं। भट्ट के नाटकों के पहले ही वंगभाषा के कुछ गीतिनाट्य रूपनारायण पाण्डेय द्वारा अनूदित हो चुके थे। इन नाटकों में वंगकाव्य की समुन्नत समृद्धि का सुचारु रूप नियोजित था। इन नाटकों का हिन्दी-साहित्यकारों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। वंगभाषा से हिन्दी उन दिनों बहुत-कुछ सीख रही थी। वंग-साहित्य में दृश्य-देश का अनन्त विस्तार हो चुका था; अतः हिन्दी पर वंगकल्पनाओं का प्रभाव स्वाभाविक था। भट्टजी की नाट्यकला पर भी उसकी छाप वर्तमान है। इन नाटकों के बाद भट्टजी ने इधर से हाथ खींच लिया। श्रीनारायण चतुर्वेदी-लिखित 'चम्पे की कली' एक छोटा-सा, परन्तु मधुर, गीतिनाट्य कुछ दिनों पहले शायद 'सरस्वती' (१६३५) में प्रकाशित हुआ था। पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का 'पंचवटी' वर्षों पूर्व प्रकाशित हो चुकी थी। यह भी गीतिनाट्य ही है और प्रसंगानुकूल इसमें पात्रों की तथा प्रकृति-सम्बन्धी भावदशाओं का निर्देश भी पाया जाता है, परन्तु इसमें आध्यात्मिकता इतनी अधिक है कि यह जीवन के

धरातल से सर्वथा असम्पृक्त हो गई है। गीतिनाट्य की कला साहित्य के अन्य अंगों की तरह सहज नहीं है। काव्य से इसमें अन्तर यह है कि काव्य में अपनी रचनाधारा का कवि स्वयं परि-चालन करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य में उसका व्यक्तित्व भी अन्य पात्रों से सर्वथा स्वतन्त्र स्पष्ट झलकता है। गीतिनाट्य में इसके लिए स्थान नहीं रहता। उसमें पात्रों को अपनी परिस्थिति व्यक्त करने के लिए पूर्ण उत्तरदायित्व, नाटकों के समान ही, रहता है। परन्तु नाटकों में दृश्य-निर्देश और अभिनय संकेतादि के लिए जितना स्थान रहता है उतना गीतिनाट्य में नहीं रहता। गीतिनाट्य में काव्य के समस्त गुणों का समाहार करना पड़ता है। काव्य की प्रचलित रूढ़ियाँ इसके लिए श्रेयस्कर नहीं मानी जातीं। किसी भी समस्या अथवा विषय को लिपिवद्ध करते हुए गीतिनाट्यकार को असाधारण स्थितियों का मोह छोड़ना पड़ता है। शेष जहाँ तक रस-निष्पत्ति का प्रश्न है, इसमें नाटक और काव्य के समान ही योजना रहती है।

'संवर्त्त' प्रभात का प्रथम गीतिनाट्य है। उनका प्रथम गीति-नाट्य होते हुए भी इसमें दोषों का अभाव है। प्रकृति और परिस्थिति को मूर्त्त करने के लिए इसमें पात्रों के कथोपकथनों में ही एक ऐसा प्रसंग प्रस्तुत कर दिया गया है, जिससे रचना में एक अपेक्षित भाव-गाम्भीर्य्य आ गया है। अहंकार, क्रोध, विज्ञान, हिंसा, कलियुग, धर्म, ज्ञान, प्रार्थना और पृथ्वी इसके प्रमुख पात्र हैं। पृथ्वी का एक पात्र के रूप में समावेश होने से विषय की अर्थशक्ति

में वृद्धि आ जाती है। इस प्रकार अहंकार इत्यादि पात्र व्यापक अर्थों की अभिव्यञ्जना करने लगते हैं। अर्थ की महिमा के आलोक में जो विराट् दृश्य प्रत्यक्ष होता है वह देश-विशेष का नहीं, अखिल विश्व का है। वर्त्तमान महासमर के सूत्रधार अपनी घोषणाओं में जिस मनोवृत्ति का प्रदर्शन किया करते हैं, उसी के मूल तत्त्वों से अहंकार का संघटन हुआ है। यह अहंकार राष्ट्रीय अहंकार का मूर्त्तरूप है। युद्ध-काल में इस अहंकार का प्रधान सहचर है क्रोध। तृष्णा उसकी युद्धकालिक जीवनी-शक्ति है। निकृति और अनृत अहंकार के आश्रय हैं।

भीमकर्मा अहंकार की प्रतिध्वनि आन्दोलित प्रकृति-प्रांत में गूँजती है। तूफान का हुङ्कार उसकी प्राकृतिक अभिव्यक्ति है। पर्वतों का स्वर इस प्रलयकाण्ड का संदेश वसुन्धरा को देता है, जिसमें मानव के स्वरूप-स्थान का संकेत है।

इसके उपरान्त धर्म महत्ता के गहनतम तत्त्व का स्तवन करता हुआ परिधि-गत सापेक्ष पार्थिव बुद्धि की असमर्थता का चित्रण करता है। ज्ञान मनुष्यजीवन में प्रेम की पूर्णता की अभिलाषा करता है और प्रकृति तथा मनुष्य में विकास-सम्बन्ध की अभिलाषा करता है। वह विश्व को एक अनुपम क्षेत्र मानता है जहाँ मृत्यु से अमरत्व निकाला जाता है। इसके पश्चात् ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। उसके उपरान्त प्रार्थना प्रेम और विरह का गुणगान करती है। इसके बाद वायु में गीत की लहरें उठती हैं। ये लहरें सम्भवतः धर्म, ज्ञान और प्रार्थना के अन्तर्हृदय के गीत की लहरें हैं। इन गीतों की शैली में स्थित

भौमिक भेद इन पात्रों की व्यक्तित्वज्योति से अनुरंजित है। तत्पश्चात् तीनों मानव के वर्तमान रूप पर क्षोभ प्रकट करते हैं। फिर प्रार्थना एक मधुर गीत गाती है। दृश्य बदलता है। पृथ्वी और प्रार्थना सामने आती हैं। पृथ्वी अपने स्वरूप और जीवन-संस्कार का स्मरण करती है। फिर प्रार्थना कहती है कि मानव माता की मृत्तिका-मूर्त्ति भूल गया, अतएव संसार में सुवर्ण की माया खुलकर खेल रही है। इसके बाद मानव के लिए प्रार्थना उद्बोधन-गीत गाती है। इस गीत में प्रार्थना की अन्तःप्रकृति का सांगोपांग संयोजन है। फिर पृथ्वी इस भौतिकवादी युग के कठिन शाप-अहं की कदर्थना करती है। प्रार्थना मानव की असमर्थता का निरूपण करती है और कहती है कि युग (भौतिक-वादी युग) मानव को उठने ही नहीं देते। इसके बाद मंगल आशा से प्रेरित होकर वह एक गीत गाती है। तदुपरान्त पृथ्वी कहती है—'मानव भले दानव बन जाय, पर मैं तो मनु की सन्तति को गोद खेलाने वाली हूँ।' दृश्य बदलता है।

चिन्तामग्न धर्म सामने है और वह मंगलस्वरूपा ज्योति की प्रशंसा करता हुआ आत्मनिविष्ट-सा है। हिंसासक्त मानव की ध्वंस-लोलुप छाया देखकर उसको बड़ा अन्तःक्लेश हो रहा है। इसी बीच में अहंकार कोप के साथ प्रवेश करता है और वह धर्म को ललकारता है। धर्म उसे अपने तर्कों से समझाना चाहता है। इसके लिए वह घृण्य भौतिकवाद और नरक की शक्तियों को अहंकार का उपासनीय बतलाता है। अहंकार पूछता है 'देवता क्यों वन्द्य, मनुज क्यों दयनीय?' फिर वह कहता है कि तेरे आँसुओं से सृष्टि का यह खेल नहीं रुक

सकता जिसका सूत्र मनुज के दो सबल हाथ खींचते हैं। धर्म कहता है कि तूने द्वेष, घृणा का प्रचार किया है और हिंसा द्वारा विश्व की शोभाश्री नष्ट कर डाली और हिंसाजनित विद्वेष ही लोगों की चेतना में शेष छोड़ा। अहंकार उत्तर देता है कि वंदना जिसे विद्वेष कहती है, नीति उसे संघर्ष कहती है। वन्दना जिसको घृणा की आग कहती है, उसी को नीति कल्याणकारी द्वन्द्व कहती है। प्रगति जीवन का सुनहला मन्त्र है और जागरण अस्तित्व का आधार, और ये दोनों द्वन्द्व में साकार हुए हैं, क्योंकि जग में पुरुषत्व का हुंकार द्वन्द्व ही है। अनन्तर अहंकार के संकेत से क्रोध धर्म का सिर काट लेता है। दृश्य बदलता है।

ज्वालामुखी पर्वत पर क्रोध के साथ अहंकार है। यह संघर्ष की चरम सीमा का संकेत है। अहंकार भी कुछ निराशा में है, फिर भी अपनी पराक्रमगाथा की घोषणा करता है। यह अहंकार ग्रन्थारम्भ से ही ईश्वर की खोज में इसलिए लगा हुआ है कि उसका वध कर सके। अहंकार, क्रोध, कलियुग और विज्ञान—ये सब मानव-महिमा का दुन्दुभि-घोष करते हैं। कलियुग की आवाज आती है—'वह चिता धर्म की सुलग रही, ईश्वर की सत्ता जलती है।' विज्ञान की आवाज भी इसी टेक को दुहराती है। ज्ञान का प्रवेश होता है। ज्ञान ईश्वर को अरूप कहता है। रूप नश्वर है और अरूप अनश्वर। इस तरह वह ईश्वरता को अभेद्य बतलाता है। अहंकार को मनुष्य का घोर शत्रु चित्रित करते हुए उसे नश्वर घोषित करता है तथा मानव को ईश्वर से शासित। और, यह भी घोषित करता है कि निखिल

सृष्टि-व्यापारों में ईश्वरी शक्ति ही आत्मप्रकाश कर रही है। अहंकार कहता है कि मानव जग का संचालक और युग का निर्माता है, वह ईश्वराधीन नहीं है। ज्ञान कहता है कि जग-जीवन ही सम्पूर्ण नहीं है, जीवन इसके आगे भी है। यह जीवन तो उस जीवन का एक छोटा-सा विलेखन है। इसके बाद ज्ञान मनुष्य को ईश्वर से अभिन्न बतलाता हुआ अन्तर्मुख होने के लिए प्रेरित करता है। इसी समय प्रार्थना की आवाज सुनाई पड़ती है। प्रार्थना की यह आवाज पूर्वागता प्रार्थना के कंठस्वर से मेल नहीं खाती, इस कारण 'प्रार्थना की आवाज' शीर्षक के अन्तर्गत जान पड़ता है, कवि ने ज्ञान की आन्तरिक तरंगों को स्वरित किया है। इसके बाद अहंकार फिर अपने विक्रम की प्रशंसा करता है। ज्ञान कहता है—"ओ मदान्ध, अस्थिचर्म के पुतले, ठहर, उस ओर देख; ईश्वर के रचना-रहस्य में वे चिह्न कैसे मिटते हैं जो तू ने मानव-शोणित से लिखे। वे चिह्न जिन्हें तू अपने गौरव की स्वर्ण कथा समझ रहा है। अपना वह लघु अतीत विलोक, जो प्रतिपल सुलग-सुलग कर और जल-जलकर अब भस्मकूट के समान मौन खड़ा है। वह देख, पश्चिमपयोधि के आलोड़ित-विलोड़ित भीमज्वार मंडलाकार तम फैलाकर रौरव-समान तेरा जयगुंजित वर्तमान निगल रहे हैं।"

अहंकार सूर्यास्त की छाया में अपने अतीत के विभ्रष्ट चित्र और वर्तमान को क्षीण-क्षीणतर होते देख सिहर उठता है, वह बोलना चाहता है, परन्तु वाणी नहीं खुलती। फिर ज्ञान पूर्व की ओर इंगित कर कहता है कि वह शाश्वत भविष्य लिये खड़ा है; वह रूप-रंग देख और उस रूप-रंग का मेल देख और तप के अनन्त ज्योतिर्मय युग पर युग का आना-

जाना, बनना, बनकर फिर मिट जाना, मिटकर फिर बनना, मुसकाना देख—

आलोक-रश्मियों से मण्डित
अपना स्वरूप अशरीर देख
संसार-सृष्टि के तत्त्वों का
तेरे प्रकाश में मिल जाना
वह देख शक्तियों का विनाश
वह महाशक्ति का लहराना
गत, आगत और अनागत का
मिल एक मधुर लय उपजाना

धीरे-धीरे क्रोध का तिरोधान होता है। अहंकार को अपने अमर अविनाशी चैतन्य होने का विश्वास होता है। इसके बाद जिस ज्वालामुख पर वह खड़ा है, उसमें स्पन्दन होता है; आकाश में मेघ उड़ने लगते हैं और अशान्त नाद से दिशाएँ काँपने लगती हैं। आँधियों के प्रकोप से समस्त विश्व में भयंकर आन्दोलन मच जाता है। कुछ क्षणोपरान्त एक महाभयंकर गर्जन के साथ ज्वालामुख फट पड़ता है और अहंकार उसमें समा जाता है।

यहीं नाटक की समाप्ति है। अहंकार का अन्त ज्ञान की उपस्थिति में ज्वालामुखी पर्वत पर कराया गया है। दर्शनों में ज्ञान की उपमा अग्नि से दी जाती है, अहंकार का उदय कर्मों से होता है। कर्मों का क्षय ज्ञान से होता है। कर्मजनित संस्कारों को ज्ञान दग्ध कर देता है। अहंकार का ज्ञान की सन्निधि में ज्वालामुखी के गर्भ में समा जाना इसी

स्थिति का रूपक है। वर्तमान अहंकार को, जिसमें मानव-महिमा तथा भौतिक आग्रह सन्निविष्ट है, कवि वर्तमान उपद्रव का मूल कारण मानता है। वेदान्त में अहंग्रह-उपासना-पद्धति को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इसमें यच्च यावत् दृश्यमात्र में अहंता का आरोप करना पड़ता है, इसमें देहात्म भावना का तिरोधान हो जाता है। अहंकार के विलय से कवि इसी स्थिति का संकेत करता है।

वर्तमान काल में धर्म के प्रति आकर्षण नहीं रह गया है, लोग भौतिक अभ्युदय को मानव-कल्याण का एकमात्र आधार समझ रहे हैं। व्यावहारिक समस्याओं को लेकर जो प्रश्न उठते रहते हैं उनका समाधान धर्ममुक्त नैतिकता में प्रतिपादित किया जाता है। इस कारण ईश्वर, जिसकी धर्म में अनिवार्य स्थिति है, लोक-हृदय से पृथक् होता जा रहा है। आजकल मनुष्यता एक नये प्रयोग की ओर उन्मुख है और इस प्रयोग में धर्म और ईश्वर का अवलम्ब बिल्कुल त्याग दिया गया है। पहले ऐसा नहीं हुआ था, इसी कारण आस्थावान् लोगों के मन में इसकी सफलता में संशय है। अध्यात्मवादी, धर्म और ईश्वर को कल्याण का एकमात्र आश्रय घोषित करते हैं। लेकिन धर्म और ईश्वर के नाम पर आदि से अबतक जो अत्याचार निरीह जनता पर होते रहे उसके कारण अब उनके लिए उतना उत्साह नहीं रहा। इसके विपरीत भौतिकवाद का प्रयोग नवीनतम है; इसलिए उसकी ओर लोग आशाभरी दृष्टि से देख रहे हैं। वर्तमान समस्याओं का पूर्ण समाधान 'कार्ल मार्क्स' ने वर्गहीन समाज की स्थापना में सिद्ध किया है। अपने धार्मिक विश्लेषण से मार्क्स ने यह सिद्ध किया

है—जबतक विरोधी स्वार्थों के शोषक और शोषित दो वर्ग बने रहेंगे तबतक संघर्ष बना रहेगा। यदि संघर्ष को समाप्त करना है तो जनता को वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए तैयार करना चाहिए। इस कार्य में सर्वहारा वर्ग ही विशेष उत्साह प्रदर्शित कर सकता है, क्योंकि उसके पास खोने के लिए कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त पूँजीपति वर्ग अपने स्वार्थ से तिलभर भी नहीं हट सकता और यह वर्ग अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए समाज में 'मात्स्य-न्याय' की चेतना अंकुरित करता रहेगा। अध्यात्मवादी ऐसा नहीं मानते, वे ईश्वर द्वारा सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान सम्भव मानते हैं। विज्ञान के प्रभाव से यद्यपि उनका धर्म बिल्कुल 'मॉडर्न' हो गया है, फिर भी संस्कार पुराने हैं। जहाँ पर विज्ञान का बुद्धिवाद ईश्वर का निरसन करता है वहाँ अध्यात्मवादी विज्ञान को भी नारकीय प्रकृति का मानते हैं। 'संवर्त्त' में आध्यात्मिक आदर्शों में ही कल्याण की प्राप्ति दिखलाई गई है जैसा 'कामायनी' में है। कामायनी और संवर्त्त में अन्तर इतना है कि वह रोमांटिक रंगीनियों से समावृत है और संवर्त में इसके लिए स्थान नहीं था, अन्यथा 'प्रभात' भी रंगों का खेल कम नहीं जानते। इसके लिए 'कलापिनी, श्वेतनील और कम्पन' पर एक दृष्टि डाल लीजिए।

प्रभात धर्मोन्मुखी निस्सीम अहङ्कार को कल्याण का स्रोत मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सीमित अहंकार ही समस्त उपद्रवों और अव्यवस्थाओं का आदि कारण है। इसी कारण उपनिषद् में जगह-जगह विराट की उपासना का संकेत मिलता है—

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासव्य इति ।"

'प्रभात' ज्ञान के द्वारा मानव को प्रेरणा देते हैं—

"देहादि समस्त प्रपंचों से........तेरी अभिन्नता ईश्वर से ।"

छान्दोग्योपनिषद् (अ० ७, खं० २५; १) में इसीका संकेत इस प्रकार किया गया है—

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स
दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदँ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारा-
देश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं
पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदँ सर्वमिति

दोनों में अन्तर इतना ही है कि 'प्रभात' के वर्णन में नयन-मनोहर दृश्यों का काव्य-भाषा में सन्निवेश है और उपनिषद् के उक्त प्रकरण में तथ्य का दार्शनिक संकेत मात्र है। प्रभात को अहं से आपत्य नहीं है; क्योंकि वे उपनिषद्-प्रतिपाद्य अहं को आत्मविकास के लिए आवश्यक मानते हैं। परन्तु आजकल का विश्वव्यापी अहं तो कुछ और है—

देखा मानव ने
रूप 'अहं' का उलटा
यह कुटिल प्रेरणा
मोह-कलित इस युग की

इसी कारण वे अहंकार की पात्र-कल्पना द्वारा विश्व की वर्तमान मनोधारा पर तीव्र आक्रोश करते हैं। उनके अहंकार की उक्तियाँ मनु की विचारधारा से मेल खाती हैं। देखिये—

यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित
एक विश्व अपने आवरणों में है निर्मित
चित केन्द्रों में जो संघर्ष चला करता है
द्वेता का जो भाव सदा मन में भरता है
वे विस्मृति पहचान रहे से एक एक को
होते सतत समीप मिलाते हैं अनेक को—(कामायनी)

कामायनी के उपर्युक्त उद्धरण और संवर्त्त के निम्नांकित वर्णन की अन्तर्धारा एक ही है—

सृष्टि के उस सूत्रधर ने निज विराट् स्वरूप
कोटि-कोटि अपूर्ण रूपों में दिया है बाँट
और फिर सचकित उन्हींमें ढूँढ़ता अविराम
रूप अपना और वह एकत्व
वह अकल्प पवित्रतम पूर्णत्व
ढूँढ़ता है ब्रह्म अपना अंश
अंश जो प्रतिनिमिष होता जा रहा है दूर
ढूँढ़ती है व्याप्ति अपने स्वप्न
स्वप्न जो बन लहर हटते जा रहे हैं दूर।

कामायनी और संवर्त में सामान्यता के और भी अनेक स्थल हैं; परन्तु स्थानाभाव के कारण उनका उल्लेख सम्भव नहीं। मनोवृत्तियों को पात्र के रूप में नाटक में व्यवहृत करने की रीति नई नहीं है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' में इसका पहले भी प्रयोग हो चुका है। वर्तमान साहित्य में 'प्रसाद' की 'कामना' नाटिका इस शैली का एक

उत्कृष्ट उदाहरण है, लेकिन संवर्त्त में और उक्त नाटिका में भौमिक अंतर है। संवर्त्त की भूमि काव्य-भूमि है और उक्त नाटिका सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करती है।

काव्य की दृष्टि से संवर्त्त हिन्दी के वर्त्तमान काव्य को एक आदर्श दे रहा है। संवर्त्त के द्वारा हिन्दी का नगण्यप्राय गीतिनाट्य-साहित्य विशेषतया समृद्ध हुआ है। नाटक और काव्य के तत्त्वों से संगठित संवर्त्त प्राण-शक्ति की विद्युत् से ज्योतिर्मय है। शैली, भाषा, विषय का निर्वाह, पात्रों की प्रकृति, दृश्य-योजना, सब एक से एक अपूर्व रचना-कौशल के साथ मूर्त्त किये गये हैं जिससे उनकी सम्यक् अवधारणा हो जाती है। पात्रों की प्रकृति और व्यक्तित्व पर 'प्रभात' को जैसा अधिकार है वैसा हिन्दी में अन्यत्र कम देखा जाता है। घटना और मनोदशा के अनुकूल दृश्य-योजना 'संवर्त्त' में अत्यन्त सौष्ठव से की गई है। इसमें ओज-गुण का प्राधान्य है। इसका कारण इसमें गृहीत संघर्ष का वातावरण है। इसके अतिरिक्त प्रमुख पात्र अहंकार और ज्ञान दोनों पुरुष प्रकृति के हैं। अत: पौरुष की शक्ति-धारा इसके वर्ण-वर्ण से मूर्त्त हो उठती है। इसमें पृथ्वी और प्रार्थना में माधुर्य्य का कोमल विकास अनुस्युत है। कोमलता में पृथ्वी और प्रार्थना में कौन किससे बढ़कर है, यह कहना सहज नहीं, उसी प्रकार जैसे माँ और पत्नी के प्रेम को कम और अधिक बताना। पृथ्वी के कथोपकथन में मानव की कुप्रवृत्तियों से घोर अन्तद्वन्द्व और क्षोभ का प्रकटीकरण होता है जिसमें मातृ-सुलभ भाव-परिणति का उज्ज्वल चित्र ही अंकित हुआ है। अहंकार

और क्रोध में अन्तर का पाना सहज नहीं, परन्तु अहंकार और क्रोध दोनों के कथोपकथन में दो कण्ठस्वर स्पष्ट प्रतीत होते हैं, जिनमें दो पृथक् व्यक्तित्वों का बलोच्छ्वास है। तूफान और अहंकार, इन दोनों में अवश्य अन्तर न्यूनतम है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि तूफान अलग व्यक्तित्व नहीं है; क्योंकि उसकी उक्तियों के ऊपर तूफान का हुङ्कार लिखा हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि तूफान के हुङ्कार में अहंकार के हृदय-मन्थन का ही निनाद है। शेष पात्रों की स्वतन्त्र स्थिति दिवा-प्रकाश की तरह स्पष्ट है।

बल की प्रशंसा में अहंकार कहता है—

बल रहा संसार में सब काल
श्रेष्ठ, सुख ऐश्वर्य्य-दायक पूज्य,
चक्र-सा चल, विहँस लेता जीत
भूमितल, आकाश-तल, पाताल
कुचल पल में बहु विरोधी तत्त्व;
वन्द्य बल शत बार रे शत बार।

बल की इस महिमा में उपनिषद्—वर्णित बल की महिमा की छाप स्पष्ट झलकती है।

बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्य।

अहंकार के पतन द्वारा कवि ने अपने समकालिक विद्रोहियों पर गहरा व्यंग्य किया है। यह अहंकार मनुष्य की महिमा का निरन्तर ध्यान रखनेवाला और ईश्वर का घोर विरोधी है। उसका अनुचर

क्रोध तक 'मानव महान, मानव महान' का गीत गाता है। ऐसे पात्रों का अन्त में पतन हृदय में शल्य-सा चुभ जाता है, लेकिन यह परिणाम कवि के संस्कारों की प्रेरणा से हुआ है।

अहंकार किसी मुख्य विचार-धारा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। उसमें अनेक आधुनिक धर्म-विरोधी विचार-धाराओं का सम्मिश्रण है। इसके मूल में वर्तमान राजनीतिक उपप्लव ही प्रधान है। कभी वह मनुष्यता की स्वतन्त्रता का शंखनाद करता है, कभी प्रकृति-विजय की ओर उन्मुख होता है, कभी अधिकार-वासना से उन्मत्त होकर लोक-लोकान्तर को प्रतिनिर्जित करने का संकल्प करता है, कभी धर्म और ईश्वर के सर्वनाश का उद्यम करते देखा जाता है। समवाय रूप से विश्लेषण करके देखा जाय तो स्वार्थ-विद्युत् से परिचालित यन्त्र के अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। एक साम्राज्यवादी का गठन जिन तत्त्वों से होता है, उन्हीं का उसके व्यक्तित्व में समाहार है। लोक-भावना को अपने अनुकूल रखने के लिए जैसे साम्राज्यवाद अनेक रूप धारण करता है, अहंकार भी वैसे ही अनेक आकर्षक योजनाओं की घोषणा करता रहता है।

अहंकार के गुट में विज्ञान को देखकर, संभव है, पाठकों के हृदय में एक कौतुक का भाव उत्पन्न हो; लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि कवि का संकेत विज्ञान के वर्तमान विध्वंसक रूप की ओर है।

इस काव्य के गुणों को इस प्रस्तावना में पूर्णतया व्यक्त करना संभव नहीं। अतएव हम पाठकों से पुस्तक का स्वतन्त्र अध्ययन करने के लिए अनुरोध करते हैं, और आग्रह करते हैं कि वे

इसके अर्थों के नव-नव संकेतों को स्वयं साक्षात्कृत करने की चेष्टा करें।

मानव-महिमा का दर्शन इस वाक्य-प्रदीप में कीजिये—

मानव वह शक्ति-प्रदीप कि जिसकी
लौ में सृष्टि निखरती है।

जीवन की परिभाषा ज्ञान के मुख से सुनिये—

देवि ! जीवन मृत्यु का चिर-शत्रु
शक्ति जीवन की अनन्त असीम
चेतना-चिनगारियों का पुंज वह अभिराम
चिर-सजग जिसमें त्रिकाल-तरंग
श्वास-चित्रित एक दृढ़ संकल्प
साधना की सुरभि से रँग प्राण
प्रेम में तप, ताप-हर आलोक
ब्रह्म का बस एक कण ले साथ
निमिष-भर में वह मरण का गर्व करता चूर्ण।

कवि अध्यात्मवादी है। अतः रहस्यवाद का प्रभाव उसके काव्य में यत्र-तत्र विकीर्ण मिलेगा—

ये नेत्र रूप के पर्व प्राण
यह हृदय प्रतीक्षा का प्रमाण
यह श्वास किसी दूरस्थ देश से
आनेवाली मधु बयार

धर्म के द्वारा कवि कहलाता है—

स्वर्ग के वरदान ! खोलो द्वार
ज्योति फिर उतरे वही अम्लान
और सुलगा दे मनुज में चेतना की ज्वाल ।

धर्म के कथोपकथन में उसकी विक्षिप्तता झलकती है। कहीं-कहीं तो मर्य्यादा का भी अतिक्रमण है। उसकी अपेक्षा अहंकार संयत जान पड़ता है।

संवर्त में शब्दों का प्रयोग नव अर्थ-चेतना में हुआ है। ऐसे शब्दों की संख्या इसमें पर्याप्त है। उदाहरण के लिए दो एक देखिये—

मलय-प्रभंजन, रावणी।

मलय-प्रभंजन का प्रयोग हृदय की रागात्मिका वृत्तियों को जगानेवाली तथा अशुभ भावनाओं को उखाड़नेवाली भावना को व्यक्त करने के लिए किया गया है। मलय-पवन की शीतलता, स्निग्धता काव्य-प्रसिद्ध है, उसके साथ प्रभंजन—आँधी—का योग अन्यथा विचित्र-सा लगेगा।

र व मध्यम स्वर का व्यंजक है। राव तीव्र उत्कम्पक स्वर को कहते हैं। रावण का अर्थ अतएव हाहाकार करानेवाला। इस प्रकार रावणी का अर्थ हाहाकार करानेवाली या त्रासकारिणी होता है।

संवर्त्त प्रभात को हिन्दी के महान कवियों के समकक्ष स्थान प्रदान कर देता है। इस काव्य में ओज और पुरुषार्थ का जो अदम्य चित्र मिलता है, वह निराला को छोड़कर हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है। दार्शनिक अनुबंध, माधुर्य का निर्वाह, कल्पना का विस्तार जैसा 'प्रभात' में मिलता है वह हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु है।

साधना-कुटीर
बनारस
१६-५-४४

त्रिलोचन शास्त्री

अपनी बात

चला था 'सर्ग' के सौन्दर्य का परिचय देने और बाँटने लगा प्रलय के विस्फोट की चिनगारियाँ !

इस दुस्साहस के लिए, जी चाहता है, हाथ जोड़कर क्षमा माँग लूँ । परंतु सोचता हूँ कि नव-निर्माण की भूमिका बनकर कवि के प्राणों से फूट पड़नेवाली इन प्रकाश-किरणों को क्यों न कारा-मुक्त कर दूँ कि वे चेतना के निष्क्रिय वातावरण में उमड़कर, फैलकर, कला के ध्वजीकरण का नहीं, ध्वजोत्थान का प्रतीक बन जायँ ।

'संवर्त्त' का व्यक्तित्व पूर्णत्व का प्रार्थी नहीं। शब्दों में सीमित रहकर भी वह समष्टि का प्रतिनिधित्व करता है ।

युग का औद्धत्य जिस आध्यात्मिक सौन्दर्य-स्रोत के प्रति कुठारहस्त है, उस काल के अंतराल में छिपकर रहने-वाले ज्वालामुखी के आकर्षण से मेरी कल्पना निराकार न रह सकी। अपने रूप के सुकुमार कणों में युग के समस्त आन्दोलन को बाँध कर विश्व के कंटकाकीर्ण पथ पर चलने के लिए वह मेरी लेखनी की नोक से उतर पड़ी। मैं तो विस्मय-विमुग्ध हूँ!

'संवर्त्त' सामने है और इसका सारा श्रेय पुस्तक-भंडार और हिमालय प्रेस (पटना) के व्यवस्थापक-प्रबन्धक पंडित जयनाथ मिश्र को है। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

मेरे जीवन में आँधी के समान आकर मेरे भ्रातृ-भाव को पुकारकर जगानेवाले हिंदी के खिलते हुए आलोचक और कवि पाण्डेय नर्मदेश्वर सहाय 'संवर्त्त' की चिनगारियों को बराबर फूँकते रहे। यह उन्हीं की प्रेरणा है कि विपरीत परिस्थितियों में भी मैंने 'संवर्त्त' का साथ न छोड़ा।

अंत में सम्माननीय कला-कुमार बाबू दुर्गा प्रसाद के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। एम. ए. की तैयारियों में संलग्न रहते हुए भी दुर्गा जी ने 'संवर्त्त' की प्रेस-कापी बनाकर जिस उदारता का परिचय दिया है वह वन्दनीय है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

'प्रभात'

पटना, १५-८-४४

[दृश्य १—जयघोष से गूँजती हुई उपत्यका]

अहंकार— *एक उग्र उदग्र विजयोल्लास*

एक भीतंकार ज्वालापिण्ड

एक ऐसा तेज मैं उद्दीप्त

देख जिसको त्रस्त-सा गगनाग्र

मेदिनी संत्रस्त भीत दिगन्त

सूर्य-चंद्र-समस्त-तारा-लोक

भय-विधूनित स्तब्ध

मुग्ध शिथिलीकृत महाव्यथमान

एक

मूर्त्त शौर्य प्रचण्ड
मूर्त्त पौरुष अनत और अखण्ड
सृष्टि का शासक प्रगल्भ प्रशस्य
व्योम-पावक-सिन्धु-क्षिति-पवमान
ले रहे मेरा निरंतर नाम
कर रहे गुण-गान
बद्ध-कर, नत-भाल
मैं महान-महान
क्रांतिमय अक्रांत
इस सुविस्तृत विश्व का आधार

[इधर-उधर देखकर]

इस सुविस्तृत विश्व का आधार
हर्ष मेरा प्रकृति का उल्लास
हर्ष मेरा स्वप्नमय नक्षत्र-वीचि-विलास
हर्ष मेरा दिग्वधू के अधर की मुस्कान
हर्ष मेरा अचल के रोमांच का स्वर लोल
हर्ष मेरा प्रज्वलित अब्धाग्नि का शीत्कार;
किंतु यदि ईषत् भृकुटि दूँ तान—

[क्रोध का प्रवेश]

क्रोध— तो प्रलय मच जाय
उठ धरा से व्योम को ले चूम

लपलपाती सप्त-जिह्वा अग्नि
पत्र-दल-सा काँप जाये स्वयं नाश कठोर
श्वास से तेरी निकल अमिताभ !
घूर्ण झंझावात
विश्व का देते हिला अस्तित्व
ज्यों लता का गात
छिन्न करते निमिष में निर्बन्ध
अखिल-बंधन-व्यूह;
वीर ! तेरा एक चरणाघात
भेज देता भूमि को पाताल !

अहंकार— क्रोध ! मेरे दिव्य दक्षिण हस्त !
रूप के मेरे प्रखर प्रतिबिम्ब !
गीत मेरे हृदय के गंभीर !
अतुल मेरी शक्ति के निर्घोष !
दूत मेरे उग्रदण्ड अजीत !
और मेरे लौह निश्चय के प्रबल पिण्डाग्र !
क्या न भीषण दृश्य वह है याद
क्या न था तू बन्धु मेरे साथ
जब जटाएँ खोल मैंने विकट धूमाकार
पटक दी थीं भूमि पर उन्मत्त
खेलने को प्रलय का प्रिय खेल ?

क्रोध— गंध-गुण झट छोड़ पृथिवी को हुआ जा लीन
उस उमड़ते विपुल जल की राशि में विक्षुब्ध,
रस न ठहरा नीर में, ठहरा न दाहक तेज,
स्पर्श भागा वायु से नीलाभ नभ से शब्द,
व्याप्त केवल रह गया तेरा सजग व्यक्तित्व
सर्वग्रासी वह सजग व्यक्तित्व,
रह गया अवशेष तेरा ही भयंकर नाद
शून्य-भर में एक।

पहली प्रतिध्वनि—
वह अग्निज्वाल—वह महाज्वाल
फट-फट पड़ती थी नग्न भूमि
उठते थे ऊपर धूम्र-शैल
दानव-से शत-शत कर पसार
बादल-से तिर-तिर फैल-फैल
निष्प्राण खड़े थे तृण-प्रवाल
वह अग्निज्वाल—वह महाज्वाल
रे, हा-हा-रव सब ओर घोर
सब ओर क्रांति, सब ओर त्रास
सब ओर अग्नि, सब ओर ताप
सब ओर ध्वंस, सब ओर नाश
द्रव बन चूते थे नखत-माल
वह अग्निज्वाल—वह महाज्वाल

दूसरी प्रतिध्वनि—

बजते थे उड़-उड़ मरण-मंत्र
बजते थे गिरि के शून्य प्राण
बजता था वन का ठूँठ गात
बजते थे उड़-उड़ चिता-भस्म
बजते थे उड़-उड़ कशाघात
बजते थे पंच-प्रपंच-यंत्र
बजते थे उड़-उड़ मरण-मंत्र
मैं चली स्वप्न के पंख बाँध
संग में छोटा-सा एक राग
जब पहुँच शून्य के बीच नील
पाई व्यापक सर्वत्र आग
सोचा—किसका यह क्रोध-तंत्र
बजते थे उड़-उड़ मरण-मंत्र

तीसरी प्रतिध्वनि—

बढ़ता जाता था अंधकार
उड़ते थे भूधर ज्यों विहंग
ऊपर अनंत में बहुत दूर
फिर क्षण-भर में ही अनायास
गिरकर होते थे चूर-चूर
हर लोक-दीप का तरल प्यार
बढ़ता जाता था अंधकार

अभिशाप फोड़ सौन्दर्य-नेत्र
भीषण ताण्डव में था निमग्न
"कितना सुंदर यह प्रलय दृश्य
कितना सुंदर यह प्रलय-लग्न !"

हँस-हँस कहता था अहंकार
बढ़ता जाता था अंधकार

अहंकार— और तो भी कह रहा संसार—
"श्रेष्ठ ईश्वर क्योंकि वह सर्वेश"
मूर्ख यह संसार
कौन वह सर्वेश ?
और क्योंकर वह हुआ सर्वेश ?
सत्य कब—ईश्वर असत्य-वितथ्य
कल्पना का जाल, कोरी गल्प
धर्म का उन्माद
विप्रलाप, प्रवंचना, पाखण्ड
अन्ध-धी विभ्रष्ट भव की भ्रांति—
एक ऐसी भ्रांति जिसका मूल
प्रार्थना-द्वारा प्रचारित लघु-समर्पण-भाव ।

क्रोध— विश्व जिसकी आरती तू वह श्वसित-सौन्दर्य,
विश्व जिसका मूक अक्षर तू वही आश्चर्य,

छः

विश्व जिसकी विजय-गाथा तू वही विजयंत,
विश्व जिसका एक कण तू वह प्रभाव ज्वलंत,
विश्व-जीवन-सार
कौन कहता तू न वन्दन-योग्य ?
और ईश्वर ?—वह अदृश्य अमान्य
मनुज-द्रोही घोर
मनुज का अपमान
मनुज का उपहास
कायरों का काव्य, कोई पाप
कर रही जिसका प्रचार समग्र
क्षुद्र वल्कलधारिणी वह अपशकुन की मूर्त्ति
प्रार्थना दिन-रात;
आँसुओं से विश्व का मन मोह
स्पर्श कर उच्छ्वास से उर-तार
प्रतिनिमिष बल के विरुद्ध अनंत
रच रही षड्यंत्र ।

अहंकार—बल रहा संसार में सब काल
श्रेष्ठ, सुख-ऐश्वर्य-दायक पूज्य,
चक्र-सा चल, विहँस लेता जीत
भूमि-तल, आकाश-तल, पाताल
कुचल पल में बहु-विरोधी तत्त्व;
वन्द्य बल शत बार रे शत बार !

सात

कब झुकी बल की पताका उच्च ?
कब मिटा बल का ज्वलंत निशान ?
कब न बल के सामने कर जोड़
सिद्धियों ने चुप झुकाया माथ ?
कब न लोटी फूल-सी सुकुमार
मधुर मधु-सी, कांति-सी कमनीय
चरण-रज बन श्री अनंत अनिन्द्य ?
मैं उसी बल का महाप्रभु मान्य,
दृष्टि जाती जिधर, चारो ओर
भूमि पर, नभ में, पवन में घोर
विपुल जल में, अग्नि में स्वर्णाभ
है लिखी मेरी प्रशस्ति अमेय
व्याप्त है सर्वत्र ही मेरा अखण्ड प्रताप।

एक ही अब कामना है शेष
विश्व कहता है जिसे सर्वेश
हनन उसका, यदि कहीं मिल जाय,
बेधने को एक ही अब लक्ष्य
घृणय उस अन्याय का उच्छेद
धर्म जिसका दूसरा मोहक विषैला रूप।

क्रोध— और मेरी साध मेरा स्वप्न
लक्ष्य की तेरे बनूँ मैं पूर्त्ति,

सिन्धु-गर्जन, बज्र का टंकार
भू-प्रकंप, प्रमत्त झंझावात
शक्ति के मेरी भयानक मंत्र;
साध मेरी और मेरा स्वप्न
तू कहे तो मैं बनूँ उत्पात
तू कहे तो मैं बनूँ संहार ।

अहंकार— आज मैं विद्रोह का अवतार
आज मैं प्रतिशोध का अवतार
आज मैं प्रतिकार का अवतार
आज मेरी धर्म से है होड़
धर्म ने जग को बनाया क्लीव,
और जिसका नाम ईश्वर आज उससे होड़
होड़ इस कारण कि पनपे शक्ति, नित्य अबाध
मुक्त हो अध्यात्म के अन्याय से संसार
धर्म नत-शिर चरण बल के थाम
त्राण माँगे और मैं दूँ त्राण;
फूँक देने योग्य है कल का लिखा इतिहास
मनुज-द्रोही भावनाओं से भरा इतिहास ।
आज का इतिहास
लिख रहा है रक्त-मसि से विश्व-गुरु विज्ञान ।

नव

(कर-स्थित त्रिशूल को ऊँचा उठाकर)

सँभल ईश्वरवाद ! तू भी सँभल रे पाखण्ड !
सँभल दुर्बल धर्म ! तू भी सँभल अंधी भक्ति !
सँभल रे अज्ञात उस स्वर्लोक का सम्राट् !
सँभल जा पातालपुर के अखिल शासक-वर्ग !

(**विज्ञान** की आवाज)

सँभल जा रे नील-नीरव व्योम !
सँभल जा नक्षत्र-कुल दैदीप्त !
सँभल जा ओ मेघ-मंडल ! चपल त्रिविध समीर
सँभल जा फेनिल जलधि उद्दण्ड !
सँभल पृथिवी ! सँभल पर्वत-प्रांत !
सँभल तृण-तरु-पुष्प पादप-पुंज !
सँभल जा तू प्रकृति ! सँभल दिगन्त !

अहंकार— नाग-सा फुफकारता मेरा अटल संकल्प
नाश के मैंने उठाये अस्त्र
बच सकेंगे अब न दृश्य-अदृश्य
धर्म जिसमें व्यक्त या अव्यक्त
और ईश्वर हो जहाँ भी बन्द
आज सबका अंत—निश्चय अंत !

क्रोध— बोल रे पाषाण ! तू भी बोल
गीत गा विद्रोह के स्वर खोल

बोल जग का तूर्य ! तू भी बोल
दे उठा हुंकार का कल्लोल
बोल बड़वा की लपट ! तू बोल
आज मेरी प्रति लहर पर डोल
डोल रे भूकंप ! प्रलय-प्रकंप !
डोल सत्यानाश के तूफान !
बोल रक्तोन्माद ! रक्तोल्लास
आज मेरी प्रति लहर में बोल
आज मेरी प्रति लहर पर डोल
बोल रे विद्रोह का नेतृत्व !
बोल विप्लव की ध्वजा का तेज !
बोल रे बलिदान !
बोल मेरी प्रति लहर में बोल
आज जीवन-मरण-पर्व अमोल !

[दृश्य २—उफनाता-सा क्रोध]

क्रोध— जल रहे अमिताभ-से युग-नेत्र,
जल रही मरुभूमि-सी युग-श्वास,
जल रहे अंगार-से युग-प्राण,
कौंधती शम्पा चमकती रक्त-किरण-कटार,
फट रहा निर्घोष सुन नभ कर करुण चीत्कार,
चौंक चिहुँक कलंक-छाया भागती पर्यस्त,
मैं खड़ा पिंगाक्ष
कर रहा संकेत रचता नाश नव संसार;

जल रहीं प्रतिपल तड़प निरुपाय
वेदनाएँ, ग्रंथियाँ प्राचीन,
जाग गौरव उधर भीषयमाण
रक्त पी दौर्बल्य का सोल्लास
मसल भय की हड्डियाँ, दृग फोड़,
दुर्ग कर संदेह का प्रध्वस्त
दिग्वधू का भर रहा है रुधिर से सीमंत;
एक लोहित दीप्ति नूतन दीप्ति
उतर भू पर नाचती सब ओर।

[सामने से तृष्णा, निकृति और अनृत गाते हुए निकलते और अदृश्य हो जाते हैं]

तृष्णा का गीत—

वह कला न जो घटती तिल-भर
वह कला न जो मिटती पल-भर
मैं वही कला मतवाली
बढ़ती हूँ छूने को अंबर
बढ़ती पी जाने को अंबर
बढ़ती सीमाएँ तोड़-फोड़
उर में भर लेने को सागर
सबको मैं नित्य जलाती हूँ
पर स्वयं न हूँ जलनेवाली

वह देखो मेरी आग वहाँ
वह देखो मेरा ज्वार वहाँ
वह देखो मेरा हास वहाँ
मेरा मधु-तरल उभार वहाँ
मेरा यौवन-शृंगार वहाँ
मेरा विस्फुरित प्रसार वहाँ
तृण में मेरी माया अपार
माया में मैं साकार वहाँ

लग रही आग लग जाने दो
मैं लपटों को उकसाऊँगी
भग्नावशेष पर बैठ मुग्ध
गाऊँगी, फिर-फिर गाऊँगी
मैं चिता-सेज पर सोती हूँ
जगती हूँ छितरा कर लाली

सब-को मैं नित्य जलाती हूँ
पर स्वयं न हूँ जलनेवाली

निकृति का गीत—

जब नेत्र खोलता अहंकार
तब जग के मस्तक पर सगर्व
मैं झट करती चरण-प्रहार

चुप कहीं भागती न्याय-नीति
करुणा-कोमलता प्रीति-रीति
छिप जाती असहाया प्रतीति

मैं विजय-पंख पर हो सवार
विष-रस उँड़ेलती बार-बार

जब नेत्र खोलता अहंकार

मैं जगा रही परिमर्श द्वेष
मैं सजा रही हूँ घृणा-वेश
मद में बेसुध, मद में विभोर
मैं घूम रही हूँ देश-देश

मेरे ऊपर मेरा प्रभाव
मेरे नीचे संसार-सेतु
रे, ऊपर-नीचे सभी ओर
फहराता मेरा कीर्ति-केतु

मैं अहंकार की विजय शक्ति
बन बजा रही हूँ युद्ध-यंत्र
मैं महाक्रोध की चण्डश्वास
बन फूँक रही हूँ प्रलय-मंत्र

शोणित-प्यासी जिह्वा निकाल
रौरव पुकारता बार-बार
जब जग के मस्तक पर सगर्व
मैं करत [illegible] चरण-प्रहार

अनृत का गीत—

संसार मुग्ध, संसार-चकित
जगती ने मुझको कब जाना
जग ने मुझको कब पहचाना
कब समझ सकी अंधी दुनिया
मेरा लहराना, उफनाना
मैं स्वर्ण-वर्ण मैं रजत-गात
मैं हेमज्वाल मैं इन्द्रजाल
भीतर से भीषण कालकूट
मैं ऊपरसे रसमय रसाल
विस्मय भी विस्मय से विस्मित
संसार मुग्ध, संसार चकित
लज्जा का तन कर खण्ड-खण्ड
कोमल-करुणा के नेत्र फोड़
मैं झूम रहा हूँ ठौर-ठौर
तम में प्रकाश के कर मरोड़
मैं सरल-सजल, मैं कुलिश-कठिन
मैं कहीं शांत, मैं कहीं चण्ड
जन-मन-मंदिर में समासीन
माया-प्रतिमा मेरी अखण्ड
मैं अहंकार का स्मित सुरभित
संसार मुग्ध, संसार चकित

क्रोध— चीर मेघावर्त्त विजृम्भित विकट भयमान
चीर मिहिका-जाल,
लाँघ दुर्गम हिम-शिखर उत्तुंग
लाँघ व्योम-विटंक,
पार कर बहु-वीचि-चक्र प्रघूर्ण
कुचल शत-शत बिघ्न-बाधा-जाल
वायु में, नभ में, धरा पर हो गये द्रुत व्याप्त
गीत गाते मुस्कुराते मद-भरे सविलास
चंड-विक्रम अहं के संसार-विजयी मंत्र;
जागरण की ज्योति प्रखर प्रचण्ड
लोचनों से निज सदर्प निकाल
मार्ग पर मैंने प्रगति के दी बिखेर-बिखेर;
यह प्रवर्त्तन-काल!
छेद काया-दुर्ग की दीवार
हड्डियाँ भी बज्र-सी उठतीं प्रतिक्षण बोल—
"यह शुभंकर यज्ञ
विश्व के उद्धार-हेतु अपूर्व
यह सुभग विद्रोह"
ओ विजय की अरुणिमे! रणचण्डि!
खड्गधारिणि! मुण्डमालिनि! आज
उतर मेरे हृदय की चिनगारियों पर देख
यह सुभग विद्रोह!

[दृश्य ३—हिंसा अकेली]

हिंसा— आज क्यों बुझती नहीं यह प्यास ?
चाह होती जा रही क्यों व्यग्र ?
उर-उदधि में उठ रही क्यों बार-बार हिलोर ?
व्योमपायी चटु उलोल हिलोर ?
क्यों महोत्सव-से उमड़ते प्राण ?
क्यों सुलगता है दृगों में दर्प ?
यज्ञ की ज्यों आग ?
ध्वंस कर विस्फोट के पश्चात

प्रस्फुरित चिनगारियों के बीच
रूप निज ज्वालामुखी सकता न ज्यों पहचान
त्यों न मैं पहचान पाती आज अपना वेश;
दृष्टि जाती जिधर चारों ओर
देखती हूँ अयुत अभ्रंकष प्रहर्षित ज्वार,
सुन रही सर्वत्र युग-टंकार,
पुलक-विलुत प्राण
पूछते हैं प्रश्न बारंबार—
आज क्यों बुझती नहीं यह प्यास ?
चाह होती जा रही क्यों व्यग्र ?
शून्य के उस पार से निस्सीम
भेजता उत्तर तुमुल प्रतिनाद—
आज मेरी विजय का त्योहार
आज बल की विजय का त्योहार
तत्त्व के प्रति देह का विद्रोह
आज इस विद्रोह का त्योहार;
तत्त्व के प्रति देह का विद्रोह
विश्व ! भय से कर न आँखें बन्द,
देख रण-मद-मत्त यह त्योहार
देख यह जय-धूम चारों ओर,
प्रकृति का जलता-सुलगता-खौलता शृंगार
मेदिनी का ध्वस्त सुख-सौन्दर्य

सिन्धु का फेनिल उदग्र स्वरूप
कर रहे बस एक ही संकेत—
हो गया संकल्प मेरा पूर्ण
हो गई पूरी युगों की साध
विश्व का साम्राज्य मेरे हाथ
विश्व का अधिकार मेरे हाथ
आज अखिल विधान मेरे हाथ
धन्य मनु के वंश का सौभाग्य
आज मानव-जाति मेरे हाथ
सृष्टि-तत्त्व-विकास मेरे हाथ
गति-प्रगति-उन्नति-पतन-व्यापार मेरे हाथ;
मैं कराली रक्त-प्याली यह विपुल ब्रह्माण्ड
दिक्करी मैं कर रही झुक झूम नूपुर-नाद
ज्वारभाटा-सी प्रतिध्वनि लोल
प्रतिनिमिष उठ, उमड़, जाती फैल
अष्ट दिग्गज का हृदय कर त्रस्त !

विज्ञान की आवाज़—

यह दीवानों की धरती है
इंगित भर से तारे असंख्य
आ सकते नीचे टूट-टूट
बस एक फूक से ढह सकते
विकराल भूध्र ज्यों भस्मकूट

सीमाओं के स्वर में भी सुन
आँधी के छंदों की पुकार
तम का बंदी जब पहचाने
अपने में अंबुधि का उभार

तब इंगित से जय-रणित चरण
ले गीत-वसंत उतरती है
यह दीवानों की धरती है

कलियुग की आवाज़—

मेरे प्राणों से—बंद जहाँ
झंझा की ज्वालाएँ सारी
अपनी दाहकता ले अपार
फूटी जो भीषण चिनगारी
जब रँग देती वह मानव का
जीवन-पथ परिवर्त्तनकारी

तब जगती युग का राजतिलक
रक्तालक्तक से करती है
यह दीवानों की धरती है

दोनों एक साथ—

अंकित हैं मानव के पदांक
जग के मस्तक पर लाल-लाल

तिल-तिल तृण-तृण में सुलग रही
मानव की लोहित कीर्त्ति-ज्वाल
नभ के आँगन में रत्न-राशि
मानव ने हँसकर दी बिखेर
मानव की लेकर चरण-धूलि
पृथिवी ने निज भर लिया थाल

मानव वह शक्ति-प्रदीप कि जिसकी
लौ में सृष्टि निखरती है
यह दीवानों की धरती है

हिंसा— मैं कराली रक्त-प्याली यह विपुल ब्रह्माण्ड
और थोड़ा रक्त
रक्त—कोई रक्त
बढ़ रही है चाह
बढ़ रही है प्यास।

(अहंकार का प्रवेश)

अहंकार— प्यास—सारा विश्व ही तो प्यास
प्यास ही तो सृष्टि का उल्लास
प्यास रानी के अधर का कंप
आँधियाँ उनचास;
रक्त दूँगा मैं तुझे सुकुमारि!

तृषित क्यों तू जब कि मेरा है अखंड प्रभुत्व ?
कर प्रतिष्ठित हृदय में तेरी विमोहक मूर्त्ति
पूजता प्रतिनिमिष मैं सप्रेम,
देख मेरी ओर ईषत् मुस्कुरा दे देवि !

मैं करूँगा आज तेरा नव-रुचिर-शृंगार
इसलिये मैंने सजाये साज
नील अंबर को बनाया लाल
सिन्धु के जल को बनाया लाल
रक्त-लहरों से प्रतिक्षण सींच
आज पृथिवी को बनाया लाल
लाल गिरि-गह्वर, लताएँ लाल
लाल तारक-दल, दिशाएँ लाल
रक्त-नद में उठ रहे तूफ़ान
रक्त की धू-धू सुलगती ज्वाल
रक्त का जाता लिखा इतिहास
रक्त के जाते लिखे नव गान
रक्त की वाणी रही है बोल
रक्त की छाया रही है डोल
रक्त-संध्या, रक्तपूर्ण क्षपान्त
रक्त का दिन, रक्त की ही रात;
प्यारमयि ! शृंगारमयि ! सुकुमारि !

देख अपने ही जनों का रक्त
पात्र में भरकर खड़ा मैं ले बढ़ाकर हाथ—
ले बढ़ाकर हाथ
पी, हो शान्त
और ईषत् मुस्कुरा दे देवि !
खिल उठे जिससे हृदय, मन, प्राण !

हिंसा— मनुज-शोणित से न मिटती प्यास
मनुज-शोणित से न घटती प्यास
मनुज-शोणित से उमड़ती प्यास !
किन्तु जग कहता जिसे सर्वेश
रक्त उसका प्राप्त यदि हो जाय
तो मिटे यह प्यास !

अहंकार— चल पड़ा हूँ ढूँढ़ने सर्वेश वह किस ठौर
किंतु अब तक एक भी पाया न उसका चिह्न;
सामने ज्वालामुखी वह है लिये पथ-अंत
कह रहा संसार ईश्वर की वही ललकार
चल पड़ा हूँ उधर ही मैं क्योंकि मेरा लक्ष्य
आँक देना चिह्न अपनी विजय का सर्वत्र ।

हिंसा गाती है—
सर्पिणी शक्ति फुफकार रही
चढ़ झंझा के मस्तक पर मैं

प्रतिपल कोड़े फटकार रही
सर्पिणी शक्ति फुफकार रही

कदली-सी काँप रही करुणा
मेरे चरणों की ध्वनि सुनकर
छिप रही बुद्धि, छिप रहा ज्ञान
मैं रण-वीणा झंकार रही
सर्पिणी शक्ति फुफकार रही

लहरें नागिन-सी डस लेतीं
बादल-दल जाता निगल-निगल
जब कोमलता किरणों के पथ
चलती लिखने कविता उज्ज्वल
जग की इच्छाएँ बाँध आज
मैं कर विष की बौछार रही
सर्पिणी शक्ति फुफकार रही

—

[आन्दोलित प्रकृति-प्रांत]

तूफ़ान का हूंकार—

नभ-भीमर-भट-भूधराकार
नव-युग-निर्माता चिर-स्वतंत्र
यौवन-गर्वित निर्भय कठोर
अकरुण अजेय अयमित अतंत्र
उत्थान-पतन का सूत्रधार
अनजान अपरिचित वेगवान
प्रलयाकुल मद-विक्षिप्त घोर
मद-रक्त मदोत्कट शक्ति-प्राण

मैं उच्छृङ्खल ध्वंसावतार
सूनेपन का उद्दण्ड हास
भय-डिमडिम-सा मेरा प्रणाद
फणि की-सी फेनिल क्रुद्ध श्वास।
आग्नेय नेत्र, धूसर शरीर
तम-सघन-वेश उन्नत ललाट
मैं विश्व-विधात्री का अमर्ष
अव्याकृत अव्याहत विराट
मैं आता लहराता समुद्र
कर भीषण गर्जन बार-बार,
रे दानव-सा पर्वताकार
सौ-सौ बलशाली कर पसार
थर-थर-थर हिल उठता अधीर
सुनसान तृणावृत अरण्यान्त
आतंक फैल जाता अपार
वन-उपवन-कानन में अशान्त।
मैं आता उड़-उड़ चिता-भस्म
बिछ जाता पथ में सभी ओर
आवृत कर लेते अखिल विश्व
विप्लवी धूलि-कण उमड़ घोर
झुक पड़ते कोमल फूल-फूल
साभार लताएँ डाल-डाल

झुक पड़ते गौरव-गर्व भूल
भय-विह्वल तरु-तरु लघु-विशाल।

पर्वतों का स्वर—

वसुन्धरे! ओ मा करुणामयि
जगन्निवेशनि! स्नेहागार
कल्याणी! दुग्धामृतदायिनि!
इन्द्ररक्षिते! देवि! उदार!

जिन प्राणों के रस से सींचा
मानवता-तरु को निष्काम
जिन प्राणों के मधु से तुमने
मधुर किये मानव-हृद्धाम

आज यातनाओं से पीड़ित
दीख रहे हैं वे ही प्राण
तड़प रहीं तुम इधर, उधर मा!
माँग रही मानवता त्राण!

अपने सौरभ की श्वासों में
रहीं छुपाये जिसका प्यार
अपनी ममता के आँसू से
जिसका किया रुचिर शृंगार
अपने उद्‌गारों में जिसके
फैलाये तुमने मृदु गान

अपनी छाया में देखा मा !
जिसके जीवन का उत्थान
आज तुम्हारी ही छाती पर
सुलगा कर विध्वंसक आग
जननि ! वही मानव रचता है
अहंकार का ताण्डव-राग !

तूफान का हुंकार—

मैं हँसता, होता घनोन्नाद
नभ में, भूतल पर महाक्रांति
मैं हँसता, होती त्वरित भग्न
कवि-प्रिया प्रकृति की मधुर शान्ति
मैं हँसता, उठती काँप-काँप
गिरिमालाएँ पर्वत हज़ार
मैं हँसता, उठती चमक-चमक
दामिनी रावणी की कटार
श्वासों से छूकर मैं प्रगल्भ
झंकृत कर देता सिंधु-यंत्र
भू से लेकर नभ तक अछोर
मैं देता फूँक विनाश-मंत्र;
शिवशंकर का ताण्डवोल्लास
मैं चामुण्डा का पदाघात

बनकर विद्रोही मूर्त्तिमान
घूमा करता मैं बज्र-गात।

पर्वतों का स्वर—

वसुन्धरे! ओ मा करुणामयि
कल्याणी! शुभ-शांत-प्रबुद्ध!
तेजस्विनी! प्रखर गतिवाली
यज्ञपूत सुख-सुरभित-शुद्ध!
धारण तुम्हें किये रहते हैं
अपनी छाया में छविमान
सृष्टि-नियम-अनुसार निरंतर
ब्रह्म, यज्ञ, तप, सत्य महान
देवों की अभिलाषाओं के
अमर दीप की बाती तुम
स्वयं स्वर्ग तुम मनुज-लोक में
नहीं स्वर्ग की थाती तुम;
हुआ नहीं था इस विचित्रतम
विपुल सृष्टि का जब निर्माण
उदधि-गर्भ में रूप तुम्हारा
छिपा हुआ था शुभे! ललाम
प्रकट हुईं तुम, लगा उमड़ने
सभी ओर सुख का बातास

तुमने अपने धूलि-कणों से
लिखा काव्यमय नव इतिहास
चारों ओर तुम्हारी फैलीं
विपुल दिशाएँ शून्याकार
क्षितिज—या कि वह तुमसे नभ के
मिलने का तरु-तोरण-द्वार
निकला जो आकाश-तत्त्व से
मुखरित वही चपल पवमान
वायु-तत्त्व से प्रकट हुआ जो
वही तेजमय अग्नि महान
करते प्राणों बीच तुम्हारे
आदिकाल से जननि ! निवास
तुम हिरण्यवक्षा जगदम्बा
तुम्हीं निखिल श्वासों की श्वास
व्रतति-प्रतति में छोड़ प्रतिक्षण
अमिट अलक्षित शत पग-चाप
सूर्य-चन्द्र दोनों ही करते
मृषाकार में जिसका माप
अपने गंधादिक गुण से जो
भर-भर सुमन-कोष छवि-जाल
चुपके देती बना वायु को
सबका ही विश्रुत प्रतिपाल

जिसके लिये हुआ ऋतुओं का
मुददायक मंगल-निर्माण
जिसकी श्वास-श्वास में बसता
सकल चराचर का कल्याण

क्षत-विक्षत कर आज उसीका
त्रिभुवन-विदित दिव्य-शृंगार
नरक-काव्य लिखता मानव का
'अहं' नरक की ओर निहार।

दिशाओं का स्वर—

घनघनौघ-सा फैल रहा है
एक बार फिर तम गंभीर
एक बार फिर नरक-शक्तियाँ
उमड़ पड़ीं उन्मत्त अधीर

फूल-फूल को छोड़ रही है
रो-रोकर शोभा सोच्छ्वास
कूल-कूल पर खेल रहा है
निठुर विवर्त्तन निठुर विनाश

हिंसा कहती है मानव से—
"आज मुझे शोणित की प्यास"
नर की कृतियाँ नारायण का
करती हैं भीषण उपहास

पर्वतों का स्वर—

कैसा रहस्य—यह खेल कौन
चलता कोई छिप मौन-मौन
प्रतिपल ग्रह से ग्रह टकराते
प्रतिपल ज्वाला-कण छा जाते
जलता सपनों का राजभवन
जलता फूलों का सिंहासन
मिटते हैं या बनते बंधन
खिलते या मुरझाते जीवन
मानव खोले रक्ताक्त नयन
कहता—"कर दूँगा भस्म गगन
कर दूँगा भस्म निखिल भूतल
नक्षत्रों का मणि-जटित महल
उफ़ ! मानव की अपमान-कथा
फट पड़ी प्रलय बन आज व्यथा
जलती है तो जल जाने दो
मानवता को पछताने दो
पृथिवी का तन मुरझाने दो"

तूफान का हुंकार—

दामन पकड़े रोता युगान्त
भयभीत खड़ा रे वर्त्तमान

बन आज प्रवर्त्तन महाज्वाल
भरता समग्र मैं प्रलय-गान
पतझड़-प्याली में प्रकृति-रक्त
यह अंतिम संध्या रही घोल
मैं भीषा के सँग भूतनाथ
प्रतिनिर्जित भू पर रहा डोल !

[दृश्य १—धर्म, ज्ञान और प्रार्थना]

धर्म— उस महत्ता के गहनतम तत्त्व को किस भाँति
बुद्धि पार्थिव परिधि-गत सापेक्ष
कर सकेगी ग्रहण, ज्यों आकाश ?
उस अनादि असीम का आनंद-मुखर रहस्य
रश्मियाँ जिसकी सहज उद्दीप्त
खेलतीं चैतन्य-कुड्मल पर चकित सविलास,
बुद्धि पार्थिव परिधि-गत सापेक्ष
विश्व-बंधन-बीच

जान पायेगी भला किस भाँति ?
वह अमिट सत्ता अगम्य अनन्त
चिर-सजग निर्द्वन्द्व
शक्ति-पुञ्ज अदृश्य कोई दिव्य
सहज स्वर जिसके प्रकृति के प्राण
शून्य-स्पंदन, अचल की निश्वास
प्रतिक्षण प्रतिनिमिष आठो याम
बज रहा वह अमर स्वर ज्यों बीन का झंकार
मधुर लय में बह रहा बातास
बह रहा वारीश युग-युग की लिये मनुहार
मधुर लय में डूबता है व्योम, क्षितिज दुरंत
नाचते लय की लहरियों पर निटिल नक्षत्र
नाचती सर्वसहा सुध भूल
गूँजतीं सूनी दिशाएँ, नाचते तरु-पत्र;
छू रहा वह स्वर हृदय के तार
और जब उस स्पर्श-सुख से जाग
खोजने लगता हृदय उस अमर स्वर का स्रोत
तत्त्व में जाकर समाता तत्त्व।

[एक क्षण रुक कर]

किन्तु मानव का हृदय घन-तिमिर से आच्छन्न
असत् को है पूजता दिन-रात

सुन न सकता वह मधुर लय, वह सुरीली तान
बज रही जो हृदय की गति में उमड़ अविराम !

ज्ञान— मनुज-जीवन प्रेम से हो पूर्ण
मनुज में हो प्रकृति का स्वर-साम्य
प्रकृति में हो मनुज का प्राकृतिक चरम विकास
भिन्न दोनों, किन्तु
तत्त्वतः हो जायँ दोनों एक
सृष्टिकर्ता का यही उद्देश्य
सृष्टि-रचना का यही मौलिक रहस्य महान;
विश्व अनुपम क्षेत्र
मृत्यु से जाता निकाला है जहाँ अमरत्व
एक ऐसा क्षेत्र जिसके बीच
ब्रह्म-जनित विशुद्ध विमलानन्द
सहज नव-नव रूप में अम्लान
व्यक्त पाता मनुज का चैतन्य।
जीव का उज्ज्वल भविष्य महान,
उस निरंजन तत्त्व की किरणें अकल्क उदार
क्षणिक पार्थिव देह में रह बन्द
एक दिन निश्चय करेगा वह प्रकीर्ण-विकीर्ण।
सृष्टि के उस सूत्रधार ने निज विराट स्वरूप
कोटि-कोटि अपूर्ण रूपों में दिया है बाँट

सैंतीस

और फिर सचकित उन्हीं में ढूँढ़ता अविराम
रूप अपना और वह एकत्व
वह अकल्प पवित्रतम पूर्णत्व।
ढूँढ़ता है ब्रह्म अपना अंश
अंश जो प्रतिनिमिष होता जा रहा है दूर।
ढूँढ़ती है व्याप्ति अपने स्वप्न
स्वप्न जो बन लहर हटते जा रहे हैं दूर।

प्रार्थना— विरह ही तो मिलन का सोपान
तप विरह की आँच में दिन-रात
प्रेम लिखता अश्रु के वे गीत
मिलन में जो पिघल बन जाते अमिट अद्वैत।

धर्म— तीर से संघर्ष करता सिन्धु आठो याम
जाय खुल जिससे युगों का बन्द कारा-द्वार
और प्रिय के अंक में नदियाँ छिपें आ मुग्ध।

ज्ञान— ढूढ़ता है ब्रह्म अपना अंश
तीर से संघर्ष करता सिन्धु
प्रेरणा ले प्रबल इससे वर्त्तमान अधीर
ढूँढ़ने को जा रहा मृदु-मलय-पवन-समान
मिलन का वह चमत्कार-मुहूर्त्त!

[वायु में गीत की लहरें उठती हैं]

पहली लहर—

खुल जायेगा स्वर्ण-द्वार वह
तब यह हाहाकार न होगा

एक रूप की छाया होगी
एक किरण की आभा उज्ज्वल
एक गीत, झंकार एक ही
एक श्वास सौरभमय निर्मल
बहता होगा हृदय-हृदय का
प्रणय एक हो नीरव निर्भय,
दृग-दृग के मृदु आमीलन में
युग-युग का भूला-सा परिचय

चिन्ताएँ इस पार रहेंगी
विरह-द्वन्द्व उस पार न होगा
खुल जायेगा स्वर्ण-द्वार वह
तब यह हाहाकार न होगा

दूसरी लहर—

चारों ओर अनभ्र मधुरिमा
आदि अंत से हीन अनंजन
धवल रश्मि-सी फैली होगी

मिल जायेगा जिसमें जीवन
ज्वालवाहिनी तिमिर-राशि का
फेनिल पारावार न होगा

खुल जायेगा स्वर्ण-द्वार वह
तब यह हाहाकार न होगा

तीसरी लहर—

सपनों के साकार रूप की
लहर-लहर के आकर्षण में
कहीं न होगा सुध का दंशन
उस प्रियत्वमय स्वर्णिम क्षण में
एक अखंड प्रवाह रूप का,
परिवर्तन का ज्वार न होगा

खुल जायेगा स्वर्ण-द्वार वह
तब यह हाहाकार न होगा

प्रार्थना— पर अहं-मद-मूढ़ मानव हाय !
हो गया है मृत्यु के आधीन

धर्म— मृत्यु का साम्राज्य यह संसार
मृत्यु हिंसा को बना कर अस्त्र
त्रस्त मानव-जाति को है कर रही दिन-रात।

प्रार्थना— मृत्यु का साम्राज्य यह दुर्दान्त
सूख जाती हैं जहाँ कलियाँ अचानक मौन
किंतु हो पातीं न खिल कर पुष्प
फूलने के पूर्व ही लोनी लता अभिराम
लोटती भू-अंक में विच्छिन्न
मृत्यु के आतंक से उद्दण्ड
मुक्ति कैसे विश्व पावे हाय !

ज्ञान— देवि ! जीवन मृत्यु का चिर-शत्रु
शक्ति जीवन की अनंत असीम
चेतना-चिनगारियों का पुंज वह अभिराम
चिर-सजग जिसमें त्रिकाल-तरंग
श्वास-चित्रित एक दृढ़ संकल्प
साधना की सुरभि से रँग प्राण
प्रेम में तप, ताप-हर आलोक
ब्रह्म का बस एक कण ले साथ
निमिष-भर में वह मरण का गर्व करता चूर्ण
मृत्यु ने, पर, मनुज को भ्रम में दिया है डाल
मृत्यु ने ही है सिखाया—"भ्रांति है अमरत्व"
मनुज का उद्धत अहं मोहान्ध
मान कर देहात्म का प्राधान्य
छिन्न करने को चला अच्छेद्य ईश्वर-तत्त्व !

दीखता संघर्ष जो सर्वत्र
द्वन्द्व और अशान्ति
मूल में सबके अहं साकार;
अहं ने ही भट्ठियों में नाश की दी झोंक
मनुज की श्री-सुरभि गौरव दिव्य।
चाहता ईश्वर कि मानव-जाति
प्रेम से जग की घृणा ले जीत
किंतु कहता अहं—"यह है मनुज का अपमान
क्योंकि यह अवहेलना है मनुज-बल की तीव्र"
चाहता ईश्वर कि जीवन मनुज का अभिराम
जाय बन सौन्दर्य का चिर-गीत
किंतु विद्रोही अहं प्रति बार
बीन के कर भग्न देता तार!
तामसिक यह सृष्टि
क्षणिक क्षण से और सीमा-बद्ध
लक्ष्य जिसका पूर्णता की प्राप्ति
और जो निज लक्ष्य-पथ पर बढ़ रही अविराम
इस प्रगति में द्वन्द्व है अनिवार्य
अखिल बाधाएँ अखिल संघर्ष
ब्रह्म-इच्छा-पूर्ति में देते अनोखा योग

प्रार्थना गाती है—

पाहुन! यह है भवन तुम्हारा!

मरण-सिन्धु में रक्त-कमल पर
पल-छिन के चल-चित्र बना कर
तुमने स्पंदन भरा

और मैंने जीवन कह इसे पुकारा

जान कि साँसों में मिल सुंदर
तुम आते-जाते हो भीतर
मैंने सुरधनु-से सपनों के

काञ्चनभ्र से इसे सँवारा

पूछ उठो यदि मेरा परिचय
कहूँ 'न मिटनेवाला निश्चय'
इसीलिये अपनी पलकों में

अमिट तुम्हारा चित्र उतारा
पाहुन ! यह है भवन तुम्हारा !

[दृश्य २—पृथ्वी और प्रार्थना]

पृथ्वी— *जिस अंधकार ने*
बीच मनुज-ईश्वर के
व्यवधान खड़ा कर दिया
भयंकर इतना
वह प्रतिपल प्रतिक्षण
बढ़ता ही जाता है;
अवगुंठन जब
इस अंधकार का हिलता—

बन अग्नि-सर्प
उड़ता पंखिल तारा-दल,
द्रुत कौंध-कौंध उठती
शम्पा मतवाली,
अभिशापों के तूफान
मरण के बादल
लेकर झकोर के भीषण रथ पर
आते
फिर रक्त-भरे चरणों से
ध्वंस मचाते !
मेरे गौरव की
विपुल राशि के रक्षक—
ज्वालामुखियाँ,
गिरि-पुंज,
तुंग पर्वत-दल
शोभित किरीट
जिनके उन्नत मस्तक पर
उज्ज्वल हिम का
श्यामल घन का
लोहित ज्वाला का,
तृण-लता-वृक्ष के
विकट सैन्य के स्वामी—

मेरे कानन,
मेरे अरण्य,
मेरे लघु कण-कण
सब लिये चण्ड प्रतिशोध अग्नि
जलते हैं;
जलती मैं भी
लेकर निज मन के भीतर
शत-शत व्रण,
मेरा हृदय किन्तु माता का;
फट पड़ूँ
समाहित करूँ आज अपने में
उनको
जिनके कल्याण-हेतु
मेरा अस्तित्व यहाँ पर ?
यह तो हिंसात्मक भाव
न जानें क्यों कर
यह उठा आज
मेरे प्राणों के भीतर ?
मेरे उर में
शत-शत
विध्वंसक ज्वालामुखियाँ,
फिर भी

नीरव,
गंभीर,
शांत,
मैं रहती।
नाशक स्वरूप मेरा
कब किसने देखा ?
उद्दण्ड वेश मेरा
कब किसने देखा ?
मैं तो
चरणों के नीचे रहने वाली
नतमस्तक सर्वसहा
सृष्टि-कलिका के
निर्मल विकास की
इच्छा से चिर-पुलकित।
अपने अंचल में
एक अमिट पग-रेखा
बाँधे,
श्वासों में एक अमिट स्वर
साधे,
चल रही ऋतता की राह
ब्रह्म-छाया में।
युग चला तोड़ने

ध्वंसक द्रोही बन कर
जग-निर्माता से
सजल स्नेह का बंधन !
युग चला उमड़ता
निज लघुतम सीमा में,
भरता आतंक, घृणा
कण-कण तिल-तिल में !
पी स्वार्थ-सुरा
युग उगल रहा हालाहल !
तम अट्टहास करता
समेट अपने में—
युग की छाया में उगे
विश्व-तन-कोमल !

प्रार्थना— मृत्तिका-मूर्ति माता की
मानव भूला,
माया सुवर्ण की
खेल रही खुल
जग में !
मा ! आज स्नेह का मूल्य
विश्व में क्या है ?
भव सोया
युग उठने न उसे देता है !

पलकों से प्रतिपल
उकसाती रहती हूँ
उस आत्म-त्याग के
दीपक की बाती को
जिसमें तेरा संदेश
सुलगता पावन ।
कहती पुकार मैं—
"जाग, जाग रे मानव !
छाया-प्रदेश के
रहनेवाले मानव !
मद की लाली से
रँगी हिलोरें जिनकी
रे उन सपनों में
बहनेवाले मानव !"
कहती पुकार मैं,
किन्तु हाय, भव सोया
मानव सोया,
न उसे युग उठने देता !
नभ की वीणा के तार
बजा कर भरती
संदेश जननि ! तेरा
समग्र पुलकित मैं,

सुन कर उठता रवि
तिमिर-कूप से पल में
केशों का भीषण जाल
हिलाते अपने;
सुन कर खिल उठता
पारिजात-सा उज्ज्वल
अमरत्व-सुधा ले
सँग मयंक राका के;
सुन कर खिल उठतीं
चतुर्दिशाएँ कोमल
स्वर में अपना स्वर मिला
मौन कहतीं-सी—
"उठ जाग, जाग रे
निज लघुतम सीमा में
तमपूर्ण मरण के साथ
खेलने वाले!
उठ, जाग, खोल
अपना सीपी-मुख
पी ले
जो ब्रह्म-पात्र से
बरस रहा
आनन्द-सुधा-रस झर-झर!"

पर मानव सोया
भव सोया
न उसे युग उठने देता !

पृथ्वी— यह निर्मम निष्ठुर युग
इसके अंबर में,
लिपटे कातर रोदन, क्रंदन
जो उमड़े
अविवेक असंयम
अनाचार से पीड़ित
निर्बन्ध निरंकुश शासन से
आतंकित,
पद-दलित, विकल,
शत-शत निरीह प्राणों से !
यह निर्मम-निष्ठुर युग—
इसकी छाया में—
पलती तृष्णा,
पलता अकाल, वंचकता,
यह विध्वंसक युग—
इसके दावानल में,
जलती स्वतन्त्रता,
प्रेम-लता,

पावनता,
यह मायावी युग !—
मानवता का भक्षक
बन गया 'अहं'
मोदित हो जिससे पल में !
दानवता का सिंचन
मानव के उर में
यह कठिन शाप
इस भौतिकवादी युग का !
देखा मानव ने
रूप 'अहं' का उलटा
यह कुटिल प्रेरणा
मोहकलिल इस युग की !

प्रार्थना— मानव सोया
युग उसे न उठने देता !
पर है विश्वास
कि ऐसे क्षण भी आते—
सोने के
ऐसे जगमग क्षण भी आते—
जब अंधकार-पट
फट पड़ता है
और अचानक

चैतन्य डोलता
मन की आँखें खुलतीं,
फिर मानव लेता देख—
विश्व-सीमा से
अति दूर,
दूर अपनी लघुतम सीमा से,
सुख-दुख के जग से दूर,
दूर इस मिथ्या मद से
उस ज्योति-विहग को
जो अवृन्त
व्यापकता-तरु पर
बैठा प्रशांत
दैदीप्त दिव्य
अग-जग के
द्वन्द्वों के प्रति
चिर से विरक्त
पर सुस्थिर;
उस ज्योति-विहग को
जो न कभी छूता है
सुख-दुख के फल को
फिर भी हर्षित रहता।
मानव विलोकता,

फिर विलोकता,

फिर-फिर,

क्रम चलता यह

फिर एक बार मुस्का कर,

उस ज्योति-विहग में

मानव खो जाता है !

सोने के ऐसे क्षण

मानव-जीवन में

आते ही हैं

मा ! निश्चय ही आयेंगे ।

[प्रार्थना गाती है]

सुध का वैभव कब हुआ भार ?

तम हो या दिन का कल प्रकाश

अधरों पर रहता एक हास

प्राणों में केवल गीत-गीत

जीवन में केवल ज्वार-ज्वार !

सुध का वैभव कब हुआ भार ?

सूनेपन को समझा न रिक्त

यह तो अनादि से सुधासिक्त

मंदिर-प्रदीप-सा जहाँ सजग

हे दैव ! तुम्हारा मधुर प्यार

मैं हूँ अविकल वह सिन्धु-तीर
जो मौन युगों की लिये पीर
मैं वह विश्वास कि एक बार

फिर आयेंगी लहरें उदार।
सुध का वैभव कब हुआ भार ?

ये नेत्र रूप के पर्व-प्राण
यह हृदय प्रतीक्षा का प्रमाण
यह श्वास किसी दूरस्थ देश से

आनेवाली मधु बयार
सुध का वैभव कब हुआ भार ?

पृथ्वी— मानव
दानव बन जाय भले
पर,
मैं तो
मनु की संतति को
गोद खेलानेवाली !
मेरी छाती पर
मानव ज्वाला फूँके,
पर,
मैं तो
मा का
प्यार लिये बैठी हूँ !

[दृश्य १—चिंता-मग्न धर्म]

धर्म— ज्योति जिसकी है न कहीं समाप्ति
ज्योति जो है स्वयं अपनी व्याप्ति
ज्योति जिसके लोचनों से दिव्य
फूटता सौन्दर्य
फूटता उद्दाम तेज अखंड
ज्योति जिसके स्निग्ध नव छविमान
स्वप्न में संसार
तिर रहा है स्वर्णों का बन गान
श्वास-पंख पसार

ज्योति जिसके अधर की मुस्कान
थिरक, रँग देती दिवस, दिनमान
गूँथ जिसके चिर-मधुर उल्लास
रश्मियों के इन्द्रधनु सुकुमार
भर छबीली प्यालियों में प्यार
वीचियों में चकित उठते जाग
ज्योति पी जिसके सुनहले हास की मधु धार
बोलते पाषाण
बोलते वनप्रांत
बोलते गिरि-शैल
बोलता सौरभ अनिल के साथ
व्योम से लेकर धरा तक फैल
चिर उसी मंगलस्वरूपा ज्योति का अपमान—
नरक, फैलाता धरा पर आज
घन-तिमिर की ध्वंस-लोलुप छाँह;
और हिंसासक्त
बह रहा मानव उधर अविराम
जिधर पशुबल का उमड़ता जा रहा तूफान !
स्वर्ग के वरदान ! खोलो द्वार
ज्योति फिर उतरे वही अम्लान
और सुलगा दे मनुज में चेतना की ज्वाल,
स्वर्ग के वरदान ! बोलो आज

दो जगा मनुजात का अमरत्व;
शून्य मन-मन्दिर, बुझा स्नेहाभ-अन्तर्दीप
दो जला, पहचान ले निज को प्रधृष्ठ मनुष्य !

[अहंकार का क्रोध के साथ प्रवेश]

अहंकार— ठहर पागल ! ठहर, सुन हुंकार
देख, नूतन रूप में सज आज—
मनुज ने जग में लिया अवतार
माँगता है वह न तुझसे ज्योति
माँगता है वह न तुझसे वंदना के छंद;
जगमगाता देह का चैतन्य
भस्म कर कातर-समर्पण-काव्य
भस्म कर भवितव्य के लघु भाव
मनुज ने निज को लिया पहचान
दूर तुझसे वह स्वयं ही विश्व का प्रतिपाल
दूर ईश्वर से स्वयं भगवान !

धर्म— तत्त्व के प्रति देह का विद्रोह यह विकराल !
लपट जिसकी उठ रही सब ओर
न्याय कुचला जा रहा असहाय
सत्य बाँधा जा रहा निरुपाय
फोड़ती तृष्णा हृदय के नेत्र

रौंदता अपमान मंगल-साज
साथ हिंसा के निरंकुश आततायी पाप
लूटता विध्वंस-लोलुप-सा उदार निसर्ग
विश्व के सौन्दर्य का कमनीय
बन्दिनी पृथिवी विकल विक्लिन्न !
बोल मानव का अहं ! तू बोल
प्रिय तुझे क्यों घृणय भौतिकवाद
नरकपुर की शक्तियों को क्यों रहा तू पूज
आज बन्दी तिमिर का तू मूर्ख
आज अपना ही बना तू शत्रु

अहंकार— दैवता क्यों वन्द्य ?
मनुज क्यों दयनीय ?
मनुज ईश्वर का रहे क्यों दास ?
मनुज पर, जग पर रहे क्यों तत्त्व का आतङ्क !
यदि कहीं सशरीर रचनाकार ईश्वर व्याप्त
तो न क्योंकर शक्तिपुँज मनुष्य
सजग हो निर्मित करे संसार अपना श्रेष्ठ ?
रे भिखारी ! रो न व्यर्थ अधीर
आँसुओं से रुक न सकता सृष्टि का यह खेल
मनुज के दो हाथ जिसका खींचते हैं सूत्र !

धर्म— खेल या यह क्रूरतम लय-काण्ड ?
निठुर ! तेरा आज कैसा रूप !
रक्त-लोहित नेत्र रुधिर-स्नात सकल शरीर
हृदय ! ज्यों हों जल रही शत-शत चिताएँ नग्न
स्वर्ग के कल्याणमय वरदान
दिव्यतम वरदान
तमक तूने फेंक डाले धूल में उद्दण्ड !
वृत्तियाँ तेरी भयानक आज
दानवी-सी दौड़तीं विकराल
फूँक कर भीषण घृणा की आग !
विश्व का तूने किया विकृत सुशोभन रूप
द्वेष का तूने दिया संदेश
द्वेष—जिसकी भट्ठियों में जल रही असहाय
दीन मानवता, मलिन-मनु-लोक
द्वेष—जो हिंसा-प्रसूत कठोर
घूर्णमान विषाक्त झंझावात !

अहंकार— वंदना कहती जिसे विद्वेष
नीति कहती है उसे संघर्ष,
और यह संघर्ष
विश्व की अनुभूतियों का गीतमय औत्सुक्य
मनुज-जीवन की सजग उत्तेजना का रूप;

वंदना कहती जिसे भीषण घृणा की आग
नीति कहती है उसे कल्याणकारी द्वंद्व
प्रगति जीवन का सुनहला मंत्र
जागरण अस्तित्व का आधार
और ये दोनों हुए हैं द्वन्द्व में साकार
क्योंकि जग में द्वन्द्व ही पुरुषत्व का हुंकार ।

धर्म— यह निठुर पुरुषत्व का हुंकार
क्या न निर्दय दर्प का औद्धत्य ?
क्या न निर्मम स्वार्थ का निर्घोष ?
क्या न विकृत प्रवृत्तियों का ही लयंकर रूप ?
धूलि-कण प्रत्येक जिसका एक अक्षय लोक
उस धरा की कीर्त्ति का अपमान
देख लौटा स्वर्ग को अमरत्व
हाय, मानव-जाति !

अहंकार— स्वर्ग—अक्षय लोक
ये निरर्थक शब्द
स्वप्न के ही ये नये दो नाम
एक युग से स्वप्न का रच जाल
चित्र गढ़ जो स्पर्श से ही ओस-सा मिट जाय
कर रहा तू मनुज की उस शक्ति का अपमान

बोलता जिसका प्रतीक ज्वलंत
सामने तेरे खड़ा निर्भीक
विश्व में तू भर रहा भय-भावना, कातर्य
रे कलंकी ! मूर्त्तिमान प्रमाद !
अपशकुन का दूत ! तू हननीय !

[अहंकार का संकेत पाकर क्रोध धर्म का सिर काट लेता है !]

[दृश्य २—ज्वालामुखी पर्वत पर क्रोध के साथ अहंकार]

अहंकार— *दुर्गम पथ,*
कण-कण अनजाना
पवि का निर्घोष विकट क्षण-क्षण
दायें-बायें बंधन कठोर,
सम्मुख विरोध की शक्ति प्रबल;
भीषा का वस्त्र पहन भीषण
फिर-फिर आई वह शैल-तटी,
आये अनंत आकृतियों में
दल बाँध
वृक्ष वन-कानन के;

भू-कंप हुआ
तूफान उठे
स्वर-अग्नि-बाण शत बार चले,
शत बार हुआ उल्का-निपात
शत बार प्रबल ओले बरसे।
ऋतुओं ने निज सेना बटोर
लुक-लुक छिप-छिप
आघात किया
पर वज्र-चरण ये डिगे नहीं,
बाधाएँ आईं
टकराईं
यह वज्र हृदय विचलित न हुआ।
उत्पात,
अमंगल,
अपमानित
अपना रज-लुंठित तन सँभाल
कायर-से चुपके लौट गये।
मेरे निश्चय की प्रखर ज्योति
प्रण का प्रकाश
फीका न हुआ।
सीमाओं का विध्वस्त दुर्ग
मेरे चरणों को चूम रहा,

तारों को मैंने पढ़ डाला
पढ़ डालीं जल की रेखाएँ
पढ़ डाला वह भारी रहस्य
आलोक-तिमिर के अंचल का।
युग का सोपान समाप्त हुआ
मैं आज खड़ा हूँ वहाँ—
जहाँ—
जय की ज्वालाओं का समूह
मेरी कहानियाँ दुहराता;
आग्नेय-प्रांत यह वही
जहाँ
कहते कायर—
है छिपी हुई
अज्ञात शक्ति
अज्ञात किसी ईश्वर की

क्रोध— ज्यों प्राणों में भय
अथवा
ज्यों तम गिरि-गुहा-बीच।

अहंकार— आग्नेय-प्रांत यह वही
क्लीव ललकार प्रचण्ड जिसे कहते
अज्ञात किसी ईश्वर की

क्रोध— जो

छिप कर रहता ज्यों स्वप्न-विहग।

अहंकार— मैंने देखा सब ओर

किन्तु,

ईश्वर न मिला

न कहीं कोई

मानव का प्रतिद्वन्द्वी पाया।

क्रोध— मानव महान!

मानव महान!

कलियुग की आवाज़—

वह चिता धर्म की सुलग रही

ईश्वर की सत्ता जलती है!

मानव ने खोला नया पृष्ठ

जिसके अक्षर कहते पुकार—

"शव आत्मवाद का आज रौंद

निर्मम चरणों से बार-बार

अणु रेणु कर रहे हैं विकीर्ण

जगमग-जगमग देहात्म ज्योति—

जिसका मधु पी-पीकर विभोर
दुनिया अपना पथ चलती है।"

वह चिता धर्म की सुलग रही
ईश्वर की सत्ता जलती है!

विज्ञान की आवाज़—

ललकार रहा है अहंकार
ऊपर से ऊपर चढ़ने को
उत्ताल तरंगों-सा प्रगल्भ
अप्रतिहत गति से बढ़ने को
जय शक्तिमंत्र की आज बोल
जिसने ईश्वर को जीता है
जिसकी बहुरंगी छाया में
दिन पलते, रजनी पलती है।

वह चिता धर्म की सुलग रही
ईश्वर की सत्ता जलती है!

(ज्ञान का प्रवेश)

ज्ञान— जिसको आकार मिला
वह तो
मिटनेवाला संसार हुआ,
जो देकर रूप

अरूप रहा
वह ईश्वर,—
ईश्वरता अभेद्य;
मिटता शरीर
मिटते न तत्त्व
मिटते न प्राण
मिटता न हृदय
मिटता न धर्म—
वह जीवन-मंगल का प्रदीप
नीरव, उज्ज्वल,
जलता युग-युग से
युग-पथ पर;
वह झुका निवेदन-सा उदार
वह पूर्ण पयोनिधि-सा अपार
मानव की मानवता अखंड।
चिर अतलस्पर्श समुद्र शांत
जलविन्दु उमड़ते इठलाते,
शिशु-सा
बस थोड़ी देर खेल
जाकर अगाध में छिप जाते।
लहराते नभ में
घुमड़ घोर

शत शत बादल
विद्रोही-से
फिर बरस विलीन वहीं होते
जिसके अधरों का होम-हास
जिसके प्राणों की करुण प्यास
ले जलद बने थे वे जल से।
उड़ते झंझा के पंखों पर
ढँक लेते प्रतति-प्रतति दुस्तर
रज-कण जो कालासीन, वही
अंचल में वसुधा के विलीन
द्रुत होते
सब पार्थक्य भूल।
तेरी इच्छाओं का अनंत
विश्राम वही ईश्वर त्योंही
तू जिसके नयन-निमीलन में
लघु-लघु सपनों-सा खेल रहा।
मानव के मन में
जीवन में
मानव के हिय की धड़कन में
ईश्वर की करुणा का प्रतीक
चिर से बैठी कोई छाया।
मानव सीमाओं का बन्दी

कैसे असीम को वह देखे ?
थक जाती मानव-बुद्धि जहाँ
उसके आगे ही ईश्वर है,
वह अग्निपिण्ड विद्योतमान
यह एक तुनुक-सा विस्फुलिंग
वह महासिन्धु
यह लघु बुद्बुद
वह महाव्याप्ति
यह लघु रज-कण ।

अहंकार— यह जीवन अपना ही विकास,
यह जीवन अपना ही विनाश,
जग-जीवन की जय का प्रतीक
मानव न कभी ईश्वराधीन ।
मानव है जग का संचालक
मानव है युग का निर्माता ।

ज्ञान— जग-जीवन ही न अखिल जीवन
इसके आगे भी जीवन है,
यह जीवन तो
उस जीवन का
छोटा-सा एक विलेखन है ।

देहादि समस्त प्रपंचों से
मानव ! तू दूर
असंग पृथक्
परिपूर्ण रूप तू अपने में।
तू व्याप्त नील नभ-मंडल में
तू व्याप्त अर्चिमाला में है,
सौरभ में और समीरण में
तू व्याप्त जलधि-ज्वाला में है,
पाटल-प्रसून में तू हँसता
तू ही हिल रहा लताओं में,
जल रहा स्नेह लेकर तू ही
दीपक की करुण-शिखाओं में,
अपने में ही ब्रह्माण्ड लिये
आसीन काल के मस्तक पर
तू गुणातीत
छाया-विमुक्त
तेरी अभिन्नता ईश्वर से।
देहाभिमान की आड़ तोड़
मानव !
तू अन्तर्मुख हो जा !
सब में अपना ही हृदय
और

अपने में देख हृदय सब का ।
इस पृथिवी का कण-कण विराट
तिल-तिल विराट
तृण-तृण विराट
अणु-अणु विराट
परमाणु-पुंज
ग्रह-उपग्रह
किरण-किरण विराट;
तू भी विराट
तेरा उज्ज्वल व्यक्तित्व
विराट-विपंची का
है एक सुनहला तार अमर
स्वर अविषम उपजाने वाला ।
यह विश्व पूर्णता का प्रदीप
यह जग समष्टि की पूर्ति-ज्वाल,
सुलगा दे व्यष्टि बिखेर स्नेह
बन मंगल-पथ की कनक-किरण !
चैतन्य-कमल मानव का उर
सौरभ चिर-निर्मल ब्रह्म मधुर
पंखुरियों को खुल जाने दे
आने दे
मलय-प्रभंजन को ।

प्रार्थना की आवाज़—

संसृति-रहस्य
जिसने चुपके
ज्वाला सुलगा दी
छुप-छुप के
मानव के मन में
जीवन में
मानव के पथ के कण-कण में
कातर स्वर में वह चिल्लाता
अपने ही तम में अकुलाता।
मैं सुनती हूँ मन में प्रतिक्षण
उस महाशक्ति का गुरु गर्जन
जिसने अनादि का काव्य लिखा
बन स्वयं आदि की अग्नि-शिखा
जो लय की लय में विना लग्न
संसार सँभाले प्रलय-मग्न
अपनी ही गीता जो अगेय
अपना ही परिचय अपरिचेय
अपनी ही उपमा अनुपमेय

अहंकार— पागल!

विभूतियों का दिगंत—

तिहत्तर

छविजाल
कह रहा है पुकार—
"यह विश्व आज का स्वर्ण-गीत
यह सृष्टि आज का स्वर्ण-योग
प्रत्यक्ष सत्य
अनुमान भूल,
मानव से बढ़ कर कौन आज ?"
परिपूर्ण शक्तियों से अजेय
परिपूर्ण तरंगों से अतंत्र
जग से मेरा व्यक्तित्व भिन्न
जग से मेरा पूर्णत्व भिन्न;
मैं विजयी
विश्व पराजित के
ईश्वर का आत्म-समर्पण है !

ज्ञान— रुक ओ मदान्ध !
ओ अस्थि-चर्म के पुतले !
रुक
उस ओर देख
रचना-रहस्य में ईश्वर के
मिटते कैसे वे चिह्न
लिखे तूने जो

मानव-शोणित से—
वे चिह्न
जिन्हें तू समझ रहा
अपने गौरव की स्वर्ण-कथा;
वह लघु अतीत अपना विलोक
जो सुलग-सुलग
जल-जल
प्रतिपल
अब मौन खड़ा ज्यों भस्मकूट !
वह देख विलोड़ित-आलोड़ित
पश्चिम पयोधि के भीम ज्वार
तम फैला कर मण्डलाकार
हैं निगल रहे
रौरव-समान
तेरा जय-गंजित वर्त्तमान !

[दिशाओं पर टँगी हुई सूर्यास्त की छाया में अहंकार अपने अतीत के विभ्रष्ट चित्र और वर्त्तमान को क्षीण-क्षीणतर होते देख सिहर उठता है । वह बोलना चाहता है, परंतु वाणी नहीं खुलती ।]

ज्ञान— वह देख पूर्व का पटल-प्रांत
है लिये खड़ा शाश्वत भविष्य।
वह रूप देख
वह रंग देख
वह रूप-रंग का मेल देख
तम में अनंत के ज्योतिर्मय
युग पर युग का आना-जाना
बनना
बन कर फिर मिट जाना
मिट कर फिर बनना मुस्काना
वह देख काल का अमिट रूप
वह महाव्याप्ति गंभीर देख
आलोक-रश्मियों से मंडित
अपना स्वरूप अशरीर देख
संसार-सृष्टि के तत्त्वों का
तेरे प्रकाश में मिल जाना
वह देख शक्तियों का विनाश
वह महाशक्ति का लहराना
गत, आगत और अनागत का
मिल एक मधुर लय उपजाना।

[धीरे-धीरे क्रोध का तिरोधान। अहंकार को ज्ञात होता है जैसे वह नश्वर जड़-वस्तु नहीं है, प्रत्युत अमर अविनाशी चैतन्य है। सहसा जिस ज्वालामुख पर वह खड़ा है उसमें स्पंदन-सा होता है। आकाश में मेघ उड़ने लगते और अशनि-नाद से दिशाएँ काँपने लगती हैं। आँधियों के प्रकोप से समस्त विश्व में भयंकर आन्दोलन मच जाता है। कुछ क्षणोपरान्त एक महाभयंकर गर्जन के साथ ज्वालामुख फट पड़ता और अहंकार को उदरस्थ कर लेता है।]